श्री भागवत-दर्शन ::

भागवती कथा

(खण्ड ४२)

★

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्विता ।
कृता वै प्रभुदत्तेन माला 'भागवती कथा' ॥

लेखक

श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

प्रकाशक

संकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर

(झूसी) प्रयाग

●

तृतीय संस्करण] माघ कृष्णा [illegible] [मूल्य २)
१००० प्रति] जनवरी १९७३

मुद्रक-वंशीधर शर्मा, भागवत प्रेस, ८५२ मुट्ठीगंज, प्रयाग।

विषय-सूची

विषय

१. रास रसामृत के अधिकारी (भूमिका)	...	१
२. रासेश्वर की रासेच्छा	...	११
३. शारदीय शशि की सुषमा	...	३४
४. आह्वान	...	४१
५. कृष्णान्तिक अभिगमन	...	४६
६. गमनौत्सुक्य	...	५६
७. तीव्रताप का परिणाम	...	६३
८. श्रीकृष्ण में कामभाव ही कल्याणप्रद है	...	७०
९. प्रेमाधिक्य-प्रस्ताव	...	७७
१०. व्रजाङ्गनाओं की विवशता	...	८५
११. प्रियत्व आत्मा में ही है	...	९३
१२. कामाभितप्ता व्रजवल्लभी	...	१०१
१३. स्वीकृति	...	११२
१४. आत्माराम का रमण	...	१२१
१५. अन्तर्धान	...	१२७
१६. विरहोन्मादिनी व्रजाङ्गनायें	...	१३४
१७. लता पतादिकों से प्रभु का पता पूछना	...	१४०
१८. श्रीराधा	...	१४८
१९. निरस्त साम्यातिशया श्रीराधा	...	१६९
२०. प्यारी के संग प्रियतम कहाँ	...	१९३
२१. श्रीकृष्णलीलानुकरण	...	१९९
२२. सात्त्विकी ईर्ष्या	...	२०४
२३. कामियों का दैन्य और स्त्रियों की दुरात्मता	...	२१०

----0----

॥ श्रीहरिः ॥

रास-रसामृत के अधिकारी

[भूमिका]

अनुग्रहाय भूतानां मानुषं देहमास्थितः ।
भजते तादृशीः क्रीडा याः श्रुत्वा तत्परो भवेत् ॥❀

(श्रीभा० १० स्क० ३३ अ० ३७ श्लोक)

छप्पय

समुझै रास—रहस्य करै सेवा सन्तनिकी ।
सुनै भागवत धरै धूरि सिर गुरुचरननिकी ॥
विषय वासना त्यागि देहकी सुधि बिसरावै ।
जगके नाते तोरि हरषि वृन्दावन धावै ॥
तजै भेद नर नारिको, गोपी भाव दृढ़ाइकें ।
अपनावैं रासेश्वरी, ताकूँ हिये लगाइकें ॥

श्रीकृष्णावतार में भगवान् ने जितनी दिव्यातिदिव्य लीलाएँ की हैं, उनमें रासलीला अत्यन्त ही रहस्यमयी है । इसके विषय में भिन्न-भिन्न विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत हैं । बहुत से तो यहाँ तक कहते हैं, कि यह प्रसंग भगवान् व्यासकृत नहीं है । प्रक्षिप्त है,

---

❀ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! जीवों पर अनुग्रह करने के निमित्त श्रीहरि मानव देह में स्थित होकर ऐसी-ऐसी क्रीड़ाएं किया करते हैं, जिन्हें सुनकर लोग उन्हीं के स्वरूप में रंग जायं, अर्थात् भगवत् परायण हो जायें ।"

पीछे से किसी ने जोड़ दिया है, इसे भागवत से निकाल दे
चाहिये। कुछ लोगों का कथन है, कि भागवतरूप देह में
पंचाध्यायी पंचप्राण हैं। जैसे शरीर में से प्राण निकल जाने
वह शव हो जाता है, उसी प्रकार श्रीमद्भागवत में से पाँच
निकाल दिये जायँ तो सम्पूर्ण भागवत निर्जीव-मृतक सदृश
जायगी। भागवत में रासपंचाध्यायी ही जीवन है।

वास्तविक बात यही है, मैंने पुराणों का बड़े मनोयोग
अध्ययन किया है, अन्य पुराणों में भी रास का प्रसंग आया
किन्तु जिस उत्तमता के साथ श्रीमद्भागवत में वर्णन ...
है वैसा कहीं भी नहीं मिलता। यहाँ तो मधुर रस की ...
कर दी गयी है। इतना सजीव, इतना सुखद, ऐसा सरस,
भाव पूर्ण तथा इतना क्रमबद्ध वर्णन और कहीं भी नहीं मिलता
क्या साहित्य की दृष्टि से, क्या कला, संगीत तथा पद-विन्यास
की दृष्टि से ऐसा अनुपम वर्णन दुर्लभ है। सरसता सजीव
होकर नृत्य करने लगती है।

कुछ लोगों का कथन है, कि इस वर्णन से लोगों को दुरा
चरण करने में उत्साह मिलता है। युवक युवती इन अत्यन्त
सरस प्रसङ्गों को पढ़ सुनकर कदाचार में प्रवृत्त होते हैं। ऐसा
सम्भव है, किन्तु जिनको दुराचरण से प्रेम है, वे ही अपने दुरा-
चरण को छिपाने के लिये श्रीकृष्ण के रास की आड़ लेकर ऐसा
करते हैं। श्रीमद्भागवत में तो बार-बार बल दे देकर यह बात
कही गयी है—बड़े लोगों के लोकविरुद्ध दीखने वाले आचरणों
का कभी अनुकरण न करें। जो करेगा वह कष्ट पावेगा मर
जायगा।

बात यह है, कि गुणी के ही पास जाकर गुण यथार्थ गुण
होता है। निर्गुण के पास जाकर गुण भी दोष हो जाता है।
स्वाति का जल सीप में पड़ने से मोती होता है। समुद्र में पड़ने

वह खारी अपेय हो जाता है। अनधिकारी विषयी पुरुष रास-
लीला का अनुकरण करने लगें, तो वे अवश्य ही पतित हो
जायँगे। मधुर रस की उपासना सबके लिये नहीं है। जिन्होंने
घोर संयम कठिन तपश्चर्या करके अपने मन को वश में कर
लिया है—जो देह की लिंग उपाधियों से ऊँचे उठ गये हैं—वे ही
मधुर रस की रस दीक्षा में दीक्षित हो सकते हैं। जिनके मन में
संसारी विषय वासना भर रही है, वे तो भगवान् की अप्राकृत
चिन्मय लीलाओं को भी विषयी स्त्री पुरुषों की-सी काम क्रीड़ा
समझेंगे और उन्हीं का चिन्तन करके च्युत हो जायँगे।

वृन्दावन के पुराने रसिकों के मुख से मैंने एक कहानी सुनी
थी। वह इस प्रकार है—

श्रीवृन्दावन धाम श्रीरासेश्वरी श्रीजी का अन्तःपुर है। वहाँ
श्रीकृष्ण की पूछ नहीं है। श्रीकृष्ण गौएँ चरा लावें व्यालू कर लें
सैट लगावें। स्वामिनी श्रीराधा जी ही हैं। श्रीकृष्ण जिनकी आज्ञा
के बिना निकुञ्ज में पैर भी नहीं रख सकते। समस्त परिकर की
स्वामिनी श्रीवृषभानुनन्दिनी ही हैं। उनकी उपासना करने से
निकुञ्ज में प्रवेश होता है। निकुञ्ज में प्रवेश उन्हीं का हो सकता
है जिनका अन्तःकरण साधन करते-करते विशुद्ध बन गया हो।
श्री वृन्दावन रसभूमि है, अन्य धाम तथा तीर्थ साधनभूमि हैं।
सहस्रों जन्मों तक जो तप समाधि द्वारा अन्तःकरण को शुद्ध कर
लेते हैं उन्हें वृन्दावन वास का अधिकार होता है। जो अनधि-
कार चेष्टा करते हैं उनका पतन अनिवार्य है। एक कोई साधक
थे। उनका अन्तःकरण शुद्ध नहीं हुआ था। मनमें सांसारिक
मलिन वासनाएँ छिपी हुई थीं। उन्हें भ्रम हो गया कि मैं रासे-
श्वरी के दर्शनों का अधिकारी हो गया हूँ। उन्होंने अपने दीक्षा
गुरु से कहा—"मुझे स्वामिनीजी के दर्शन करा दो।"

गुरुदेव ने कहा—"भैया! स्वामिनीजी के दर्शन साधनसाध्य

नहीं, वे तो कृपासाध्य हैं। जब कृपा करेंगी, अपने आप दर्शन योग्य बनाकर दर्शन दे देंगी। तुम हठ मत करो, उनकी कृपा की प्रतीक्षा करो।"

गुरुदेव की बात उसने नहीं मानी। वह एकान्त वन में चला गया। और वहाँ श्रीजी के दर्शनों के संकल्प से अन्न जल त्यागकर उपवास करने लगा। ८-१० दिन हो गये। दयामयी रासेश्वरी को उसके ऊपर दया आ गयी। अभी वह दर्शनों का अधिकारी तो था नहीं। लोग सन्तों की कृपा को ही नहीं सम्हाल सकते, तो जो अनन्त सौन्दर्य माधुर्य की खानि हैं उन रासेश्वरी के अपार सौन्दर्य को कैसे सम्हाल सकता है। श्रीजी ने केवल अपने वाम हस्त की उँगलियों के ही दर्शन उसे कराये। वह श्रीहस्त इतना सुन्दर था, कि उसके दर्शन करते ही उसका शुक्र स्खलित हो गया। तब उसे अपनी भूल प्रतीत हुई। गुरु के समीप जाकर वह बहुत रोया। तब गुरुजी ने उससे अन्तःकरण की शुद्धि के लिये मन्त्र जपादि साधन कराये।

कहने का सार यही है, कि जो अनधिकार चेष्टा करते हैं वे उभय भ्रष्ट हो जाते हैं। उपदेश अधिकारी के हृदय में ही ठहर सकता है। साधना के बिना अन्तःकरण की शुद्धि नहीं होती। कुछ अनुग्रह सृष्टि के जीव होते हैं, इन्हें इस जन्म में कुछ भी साधन नहीं करना पड़ता, वे जन्म से ही सिद्ध होते हैं। पीछे के जन्मों में वे साधन की भूमिका को समाप्त कर चुके हैं, ऐसे कोई बिरले लाखों में एक आध होते हैं। मधुर उपासना का-रास विलास के रसास्वादन का-भी सभी को अधिकार नहीं होता। जैसे ज्ञान की सात भूमिकाएँ बतायी हैं, वैसे ही रसरीति की भी व्रज के परम रसिक श्रीभगवत्रसिकजी ने सात भूमिकाएँ बतायी हैं। वे कहते हैं—

प्रथम सुनै भागौत भक्त मुख भगवतबानी।
द्वितीय अराधै भक्ति व्यास नव भाँति बखानी॥
तृतीय करै गुरु समुझि दच्छ सर्वज्ञ रसीलौ।
चौथे होइ विरक्त बसै बनराज जसीलौ॥
पाँचै भूले देह निज, छठे भावना रासकी।
सातें पावै रीति रस, श्रीस्वामी हरिदास की॥

वृन्दावन में परम रसिकाचार्य श्रीहरिदासजी इस रसरीति के आचार्य हो गये हैं। वे विरक्त ऐसे थे, कि एक गुदरी और करवा मात्र रखते थे। निधिवन में परम विरक्तों की भाँति निवास करते। संगीत में उनके सदृश सम्पूर्ण भारत में कोई नहीं था। सुप्रसिद्ध तानसेन उनके शिष्य थे। वे ललिता सखी के अवतार ही माने जाते हैं। मधुररस की उपासना की परम्परा उनका आदर्श है। उसी परम्परा में श्रीभगवत रसिक हुए हैं। ये भी परम विरक्त थे। इन्होंने ही रसरीति की साधना का क्रम बताया है। वे कहते हैं।

१—भागवत श्रवण—रसरीति में दीक्षित होने वाले साधक का सर्वप्रथम कर्तव्य है, कि प्रथम वह भागवत का श्रवण करे। क्योंकि जब तक जिस विषय का श्रवण न करेगा, तब तक चिन्तन कैसे करेगा। मन का स्वभाव है, जिसे देखता है, सुनता है। उसी के विषय में ऊहापोह करता है। भागवत को भी यह नहीं, कि कुछ सोने चाँदी के ठीकरा देकर ऐसे ही अहरे गहरे पञ्चकल्यानी से सुन ले। भक्त के मुख से भगवतबानी को सुने। भक्त जो कहेगा, वह हृदय से कहेगा। केवल शब्दों का प्रभाव नहीं पड़ता, वे जिस भाव से कहे जाते हैं उसी का प्रभाव पड़ता है। एक असत्यभाषण करने वाला है, वह कहे—"सत्य बोला करो।" तो उसका कुछ भी प्रभाव न पड़ेगा। दूसरा सदा सत्य बोलता है, तो उसकी वाणी से जो शब्द निकलेंगे सत्य से सने हुए निकलेंगे, उनका

तुरन्त प्रभाव पड़ेगा। इसी प्रकार भक्त के मुख से भागवत सुनने से अन्तःकरण में स्वतः भक्ति करने की इच्छा उत्पन्न हो जाती है। भागवत सुनने के अनन्तर आराधना की लालसा बढ़ती है। इसलिये दूसरा साधन है—आराधना।

२. आराधना—आराधना के अनन्त भेद हैं, किन्तु श्रीव्यासादि मुनियों ने श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, साख्य और आत्मनिवेदन इस प्रकार नौ भाँति की आराधना बतायी है। इनमें से किसी भी प्रकार से भगवान् की आराधना करे। क्योंकि जीवन का सार आराधना ही है जिस जीवन में आराधना नहीं वह शुष्क जीवन है। उसमें सरसता आ नहीं सकती। आराधना से हृदय द्रवीभूत हो जाता है, उसकी अशुभ वासनाएँ, भोगों के भोगने की इच्छाएँ, शान्त हो जाती हैं। जब उपासना करते-करते हृदय विमल बन जाय, रसरीति के जानने वाले गुरु की शरण ले।

३. गुरुशरण—जैसे उपासना होती है, उसके अनुरूप ही गुरु करना होता है। जो जिस उपासना को जानता ही नहीं, यदि वह लोभवश झूठ-मूठ को कान फूँक ही दे तो उससे लाभ क्या? जैसे और व्यापार हैं, वैसे ही शिष्य बनाने का भी एक व्यापार हो गया है। उसमें आध्यात्मिकता न रहकर लौकिकता आ गयी है। मनुष्य गुरु के अनुरूप न बनकर अपने अनुरूप ही गुरु खोजते हैं, इसीलिये रजोगुणी लोगों को गुरु भी रजोगुणी मिलते हैं, जो कृपण हैं उन्हें गुरु भी ऐसे कृपण और व्यापारी मिलेंगे, जो पैसे के तीन अधेला बनाने वाले हों, जिनके सब व्यापार पैसे के ही निमित्त हों। जो व्यभिचार प्रिय नर-नारी होंगे उन्हें गुरु भी वैसे मिलेंगे, विरक्त को विरक्त गुरु मिलेगा। जो उपासना नहीं करते, केवल नाम के लिये गुरु बनाते हैं, उन्हें झूठा वेष बनाने वाले

व्यापारी गुरु मिलते हैं। श्रीभगवतरसिक जी ने बड़ा बल देकर ऐसे वेषधारी गुरुओं के सम्बन्ध में कहा है—

वेषधारी हरिके उर सालैं।
लोभी, दम्भी, कपटी, कामी सिस्नोदर को पालैं॥
गुरू भये घर घर में डोलैं नाम धनी को वेचैं।
परमारथ सपने नहिँ जानैं पैसनि ही को खैचैं॥
कबहुँक वक्ता ह्वै बन वैठें कथा भागवत गावैं।
अर्थ अनर्थ कछू नहिँ भावैं पैसनि ही को धावैं॥
कबहुँक हरि-मन्दिर को सेवैं करैं निरन्तर बासा।
भाव भक्ति को लेश न जानैं पैसनि ही की आशा॥
नाचैं गावैं चित्र बनावैं करैं काव्य चटकीली।
साँच बिना हरि हाथ न आवैं सब रहनी है ढीली॥
बिनु विवेक वैराग्य भक्ति बिनु सत्य न एको मानौ।
'भगवत' विमुख कपट चतुराई सो पाखंडी जानौ॥

ऐसे वेषधारी गुरु भक्ति भाव क्या सिखावेंगे। उनसे तो लोक परलोक में हानि ही हानि है, परन्तु तुम्हारी भावना तो कपट की है निष्कपट गुरु कैसे मिलेंगे। जैसा धन होता है वैसे ही व्यय होता है। कपट का धन है तुम चाहो उससे परमार्थ सधे सो तो हो नहीं सकता। धर्म से उपार्जित धन ही धर्म में लगेगा। अधर्मोपार्जित धन चोरी, झूठ पाखण्ड, राजद्वार या रोगादि में व्यय होगा। इस विषय में एक दृष्टान्त है।

एक वेश्या थी। उस पर पाप का बहुत धन इकट्ठा हो गया था। उसकी इच्छा हुई पितृपक्ष में हम भी श्राद्ध करें, ब्राह्मणों को भोजन करावें, किन्तु कोई ब्राह्मण वेश्या के यहाँ भोजन करने को सहमत ही न हुआ। किसी बूढ़े भाँड को यह बात मालूम हो गयी। वह लम्बे तिलक लगाकर पोथी पत्रा बाँधकर पहुँचा और जाकर बोला—"बाईजी! आसिरबाद।"

पण्डित समझकर बाईजी ने पालागन की और अपना अभिप्राय बताया। बड़ी देर तक भाँड देवता सोचते रहे और फिर बोले—"अब बड़ा धर्म संकट मेरे सामने आ गया। आप लोगों का धन तो जैसा है सभी जानते हैं, फिर हमें आपका भी तो उद्धार करना है, तुम्हारे हाथ का तो हम खायँगे नहीं। सूखा सामान ले जाकर अपने हाथ से बनावेंगे।"

वेश्या को बड़ी प्रसन्नता हुई। यह नित्य घी, खाँड, दूध तथा और बहुत-सी सामग्री देती। भाँड़ देवता नित्य खीर उड़ाते। जब सोलह कनागत (पितृपक्ष के १६ दिन) बीत गये, तब वेश्या ने कहा—"पण्डितजी! आशीर्वाद तो दें?"

यह सुनकर भाँड देवता बोले—

सोलहू कनागत बित गये, खाई खीर औ खाँड़।
पौं का धन पौं ही गयो, तुम वेश्या हम भाँड़॥

इसीलिये जो उपासना के बिना गुरु बनाते हैं, उन्हें सद्गुरु मिलते भी नहीं और चाहें संसारी विद्या आ जाय रस की रीति नहीं आती, इसलिये भगवत रसिकजी कहते हैं—दक्ष, सर्वज्ञ और रसीलो गुरु बनावे। यह तीसरी भूमिका हुई। अब चौथी है वैराग्य।

४. वैराग्य—रासोपासना में संसारी विषयों से विराग अत्यावश्यक है। विरक्त होकर वृन्दावन में बास करे। अनधिकारी वन में बास करेगा, उसे वहाँ भी पाप करने की ही सूझेगी, अतः संसार के वास से मुख मोड़कर वृन्दावन में वास करे। तब पाँचवीं अवस्था देहाध्यास की विस्मृति।

५. देह की विस्मृति—जब तक मैं पुरुष हूँ, अमुक स्त्री है। स्त्री भोग्या है, पुरुष भोक्ता है, यह भेदभाव हृदय में है, तब तक रास-रस का आनन्दानुभव होना कठिन ही नहीं असम्भव है।

गोपी एक भाव है। गोपी न स्त्री हैं, न पुलिङ्ग, न नपुंसक लिंग। वह तो लिंगातीत एक भावना है। अशुद्ध चित्त में वह भावना हो नहीं सकती। सद्गुरु की कृपा से जब विषयों से विराग हो जाय–देह का अध्यास छूट जाय, तब वह रास की भावना का अधिकारी होती है, इसीलिये भगवत रसिकजी कहते हैं—"छठे भावना रासकी।"

६—रासकी भावना—"जब लिंगाभिमान छूट जाता है तब उसे रासस्थली में प्रवेश का अधिकार होता है। अर्जुन रास के लिये अर्जुनी सखी कैसे बने, नारदजी को नारदी कैसे बनना पड़ा। शिवजी गोपीश्वर कैसे हुए, ये प्रसंग आप रास के प्रकरण में 'भागवती कथा' में पढ़ेंगे ही। फिर से यहाँ भूमिका में उनका उल्लेख अनावश्यक है। रासस्थली में प्रवेश होने पर ललिता विशाखा आदि सखियाँ उसे रास की रीति को बताती हैं, इसी-लिये कहा है—"सातें पावे रीतिरस, श्रीस्वामी हरिदास की।"

ये ही सात भूमिकाएँ हैं। जिन्हें पार करने पर रास-रसार्णव में मज्जन करने का अधिकार प्राप्त होता है। सबल के हाथ में खड्ग दो तो वह उससे शत्रुओं का संहार करके आत्मरक्षा कर सकता है। विजय प्राप्त कर सकता है। यदि उसी को बालक के हाथ में दे दी जाय, तो उसी से वह अपने अंगों को काट लेगा। मधुर रस की उपासना की चटसार गृहस्थ है, घर में रहकर रास रस का अनुसन्धान करे। जब देह गेह कुछ भी अच्छा न लगे, संसार के सभी विषय विषवत् प्रतीत हों, लौकिक व्यवहार काटने दौरें तब जाकर वृन्दाविपिन में बास करे। ऐसे मधुर रस के उपासकों के लिये श्यामा श्याम के अतिरिक्त कुछ भी कर्तव्य शेष नहीं रह जाता। उनके सब क्षण अष्टयाम सेवा पूजा *और उपासना में ही व्यतीत होते हैं। महाभागवत*

रसिकजी ने ऐसे रसिकों की एक छप्पय में दिनचर्या वर्णन की है। वे कहते हैं—

कुञ्जनि में उठि प्रात गात जमुना में धोवै।
निधिवन करि दण्डौत विहारी को मुख जोवै॥
करै भावना बैठि स्वच्छ थल रहित उपाधा।
घर घर लेइ प्रसाद लगै जब भोजन स्वाधा॥
संग करै 'भगवत रसिक' कर करवा गूदरि गरे।
वृन्दावन विहरत फिरै, जुगल रूप नैननि धरे॥

व्रजरस के रसिक विरक्त वैष्णव को नित्य वृन्दावन की कुन्जों में वास करना चाहिये। प्रातःकाल होते ही कुन्जों से उठे। नित्य कर्मों से निवृत्त होकर श्रीयमुनाजी में स्नान करे। फिर निधिवन में (जहाँ रसिकशिरोमणि श्रीहरिदास स्वामी प्रिया-प्रियतम को नित्य लाड़ लड़ाते थे, उस स्थान में) आकर उसे दण्डवत् करे। तदनन्तर श्रीबाँके बिहारी के दर्शनों को जावे। दर्शन करके फिर कुन्जों में लौट आवे। वहाँ बैठकर एकान्त में प्रिया प्रियतम की लीलाओं का अनुसन्धान करे। ऐसे शान्त एकान्त स्वच्छ स्थल में आकर बैठे जहाँ किसी प्रकार की उपाधि न हो। फिर व्रजवासियों के घर-घर से टुकड़ा माँगकर लावे। जब भली प्रकार भूख लगे तब श्यामा श्याम को अर्पण करके प्रसाद पावे। जिससे वे टुकड़े अमृतोपम स्वादिष्ट लगें। फिर जो रास रस के मर्मज्ञ हों, उन भगवत रसिकों का संग करे, उनसे रसकी बातें सुने। अधिक संग्रह करने का काम नहीं। टोंटीदार एक मिट्टी का करवा रखे और एक फटे पुराने वस्त्रों की गुदरी रखे। इस प्रकार संसारी सभी प्रपञ्चों से विरक्त होकर जुगल छवि को नयनों में धारण करके वृन्दाविपिन की बीथियों में विहरा करे। ऐसे ही भक्तगण रास के रहस्य को समझ सकते

हैं। हम लोग जो विषयों के कीड़े हैं। जिनकी सभी चेष्टायें मिथ्या मान प्रतिष्ठा के लिये हैं, सच पूछा जाय, तो हम लोग तो रास की बात करने के भी अधिकारी नहीं हैं। फिर भी इसमें प्रवेश करने के लिये मन से, बेमन से निरन्तर श्रवण करना ही उपाय है, इसलिये भागवत के इस महाभाव के श्रवण करने के तो सभी अधिकारी हैं।

लोग जो कहते हैं, कि रास की बात सुनते-सुनते कामवासना की वृद्धि होती है, यह सर्वथा मिथ्या भावना है। रास की भावना से तो काम भाव की शान्ति होती है। जिन्हें काम का वेग अधिक कष्ट देता हो, उन्हें बार-बार रास पञ्चाध्यायी को श्रद्धा सहित सुनना चाहिये, गाना चाहिये। इससे काम रोग की शान्ति होती है और शनैः-शनैः काम रोग नष्ट होता है। इस विषय पर मैं अपने जीवन का विशेष अनुभव तथा अन्यान्य बातें अगले खण्ड की भूमिका में लिखने का प्रयास करूँगा। पाठक पाठिकाएँ इस परम पुण्यतम दिव्य प्रसंग को बार-बार पढ़ें और जहाँ तक हो, इसे अप्राकृतिक भाव ही समझें। पढ़ते-पढ़ते जब प्राकृत स्त्री पुरुषों के सम्मिलन भावना होने लगे, तो पुस्तक को बन्द कर दें और ध्यान करें कि कदम्ब के नीचे ललित त्रिभंग गति से टेढ़े होकर प्रियतम घनश्याम खड़े हैं, उनसे सटी हुई श्रीप्रियाजी खड़ी हैं, उनके कण्ठ में प्रियतम गलबैया डाले हुए हैं। मोर मुकुट की लटकन में चन्द्रिका सट रही है। ओढ़नी और पीताम्बर परस्पर में मिल रहे हैं। प्यारे वीणा बजा रहे हैं, प्रिया उन्हें एक टक निहार रही हैं। इस छवि का बार-बार ध्यान करने से प्राकृत भावना नष्ट होगी। यह भाव नया नहीं है। पति-पत्नी नित्य ही इसका अनुभव करते हैं, इसे केवल भगवान् में बदल देना है। भगवान् तो लोगों पर कृपा करने को ऐसी ही सरल सरस क्रीड़ाएँ करते हैं, जिसे सब सुखपूर्वक समझ सकें, उसी भावना से उन्हें भज सकें।

भगवान् अलौकिक-भाव प्रदर्शित करें, तो उन्हें समझ ही कौन सकेगा और उनसे लोगों का कल्याण ही क्या होगा ?

छप्पय

कब हौं वृन्दाविपिन धूरिमें लोट लगाऊँ।
कब कुञ्जनि में बैठि प्रिया प्रियतम छवि ध्याऊँ॥
कब घर घर तैं टूँक माँगि परसादी पाऊँ।
कब ललितादिक लिये लड़ैती लाड़ लड़ाऊँ॥
कब लखि श्यामा श्याम छवि, होहि हरी यह दुखितचित।
कब इन नयननि तैं लखूँ, रसमय रास विलास नित॥

संकीर्तन भवन,
प्रतिष्ठानपुर प्रयाग
चैत्र कृष्णा—५। २००७ वि०

विनीत
प्रभु

रासेश्वर की रासेच्छा

[६५६]

भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः ।
वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः ॥*

(श्री भा० १० स्क० २९ अ० १ श्लोक)

छप्पय

ब्रजबनितनि अनुराग नवलमहँ नित नव विकसत ।
गिरधर नटवर नाम सुनत अतिशय हिय हुलसत ॥
प्रथम स्रवन फँसि गये नयन पुनि भये पराये ।
मन अटक्यो लखि रूप जगत् के काज भुलाये ॥
नाम श्रवन पुनि दरश करि, चित्त परस हित अड़ि गयो ।
परस पाइ पुनि केलि हित, सुरति भाव जाग्रत भयो ॥

प्रेम का पथ बड़ा ही अटपटा है । प्रेम मनके अनुकूल मार्ग है संसार में ऐसा कोई नहीं है, जो प्रेम न चाहता हो, जिसके मन में प्रेम करने की अभिलाषा न हो । प्रेम कोई अपरिचित वस्तु नहीं है । प्रेम को सभी जानते हैं । पशु-पक्षी, कीट पतंग प्रेम करना तो सभी जानते हैं । अन्तर इतना ही है, एक नित्य से प्रेम एक अनित्य से प्रेम । एक बिम्ब से प्रेम एक प्रतिबिम्ब से

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! भगवान् ने भी शरद ऋतु की उन रात्रियों को देखकर जिनमें मल्लिका के कुसुम खिले हैं योगमाया का आश्रय लेकर रमण करने की इच्छा की ।"

प्रेम। एक सत्य से प्रेम एक असत्य से प्रेम। सत्य से किया प्रेम भी सत्य होता है और असत्य से किया हुआ प्रेम असत्य होता है। उसे ही मोह भी कहते हैं। सत्य से किया प्रेम मुक्ति का कारण है। असत्य से किया हुआ मोह बन्धन का कारण है। प्रेम करने से नहीं होता वह- दैवेच्छा से, पूर्व-जन्मों के संस्कारों से–हो जाता है। लोक में भी सभी से प्रेम थोड़ा ही हो जाता है। जिनसे मन मिल जाता है उन्हीं में प्रेम होता है। मन न मिलने पर पास में रहने पर भी प्रेम नहीं होता। जो प्रक्रिया प्रेम की संसार में है वही परमार्थ में भी है। अन्तर इतना ही है, कि संसारी प्रेमास्पद नाशवान् अनित्य है, परमार्थ पथ का प्रेमास्पद नित्य है शाश्वत है। भगवान् के भिन्न-भिन्न कार्यों के निमित्त भिन्न-भिन्न अवतार होते हैं; कोई अवतार ज्ञान के प्रसार के लिये, ज्ञान की महत्ता के लिये होते हैं, जैसे हंस कपिलादि अवतार। कोई अवतार बोध प्रसार के निमित्त होते हैं जैसे व्यासादि अवतार। कोई अवतार धर्म की स्थापना के लिये होते हैं जैसे युगावतार। कोई अवतार मर्यादा स्थापनार्थ होते हैं जैसे श्रीरामादि अवतार, किन्तु श्रीकृष्णावतार का एकमात्र उद्देश्य प्रेम का प्रसार करना है। श्रीकृष्णावतार में जैसी प्रेम की उत्कर्ष लीलायें दिखायीं हैं, जैसी प्रेम की सुखदायिनी सरिता बहाई है, वैसी कहीं भी किसी भी अवतार में न मिलेगी। इसीलिये यह अवतार परिपूर्णतम माना गया है। रासलीला प्रेम की पराकाष्ठा है। प्रेम की प्रधानतया तीन अवस्थायें हैं। पूर्वानुराग अंकुर है। मिलन हरा-भरा पुष्पित पूर्ण वृक्ष है और वियोग उसका मधुरातिमधुर पका हुआ फल है। पूर्वानुराग की पराकाष्ठा है दर्शन सुख, मिलन की पराकाष्ठा है रासविलास और विरह की पराकाष्ठा है दशमी दशा मृत्यु। यह साधारण रीति से ऊपरी भेद बताये। वास्तव में तो प्रेम में कभी वियोग

होता ही नहीं। नित्य संयोग का ही नाम तो प्रेम है। विरह एक मिलन की अवस्था विशेष ही है। "मिले रहत मानों कबहुँ मिले ना।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब मैं श्रीकृष्णचन्द्रजी की परम दिव्यातिदिव्य रासलीला का वर्णन करना चाहता हूँ। आप मुझे अनुमति दें, तो मैं वर्णन करूँ। एक मन में आता है, इस विषय को छोड़ ही दूँ, इसके वर्णन में मुझे भय लग रहा है।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! भगवत् चरित्रों के वर्णन में भय का क्या काम? भगवान् के चरित्रों का तो निर्भय होकर वर्णन करना चाहिये। भगवत् चरित तो भय को नाश करने वाले होते हैं। आप परम मधुरातिमधुर रासलीला के वर्णन में भय क्यों करते हैं?"

इस पर सूतजी आवश्यकता से अधिक गम्भीर हो गये। वे कुछ देर तक बोले नहीं, फिर कुछ सम्हल कर बोले—"भगवन्! भगवच्चरित्रों के वर्णन में तो भय की कोई बात ही नहीं, किन्तु यह रासलीला का प्रसङ्ग ऐसा गूढ़ातिगूढ़ है कि इसका वर्णन वैखरी वाणी में करना अत्यन्त ही कठिन है। जहाँ इसके वर्णन में प्रकृति बुद्धि हुई कि मानों श्रोता वक्ता दोनों ही गिर गये। जैसे सिंहनी का दुग्ध सुवर्ण के ही पात्र में ठहर सकता है, अन्य पात्र में रखने से वह पात्र ही फट जायगा, इसी प्रकार निर्मल मन में ही यह लीला ठहर सकती है। जो इसे साधारण स्त्री-पुरुषों की-सी काम क्रीड़ा समझ लेंगे, उनका तो पतन ही होगा। अतः मुझे भय लग रहा है, कि मैं इसका यथार्थ वर्णन कर भी सकूँगा या नहीं। आपकी ओर से तो मुझे कोई भय है नहीं। आप तो काम क्रोधादि से रहित बाल ब्रह्मचारी हैं। भगवान् नन्दनन्दन के कृपापात्र हैं। मुझे तो भय अपने ही ऊपर है, मैं कहीं दूसरी ओर न बह जाऊँ।

इस पर हँसते हुए शौनकजी ने कहा—"नहीं, सूतजी! आप चिन्ता न करें। मङ्गलमय भगवान् सब मङ्गल ही करेंगे। हृदय में बैठकर भगवान् अपनी भुवन पाविनी मङ्गलमयी कथा का स्रोत बहा रहे हैं, उनके मन में काम क्रोधादि के विकार आ ही कैसे सकते हैं। किसी कारण विशेष से आ भी गये, तो वे तुरन्त नष्ट हो जायँगे।" आप चिन्ता न करें। पहिले आप मुझे पूर्वानुराग का स्वरूप बताकर फिर रास सम्मिलन की लीला सुनाइये।"

सूतजी ने कहा—"मुनियो! यह विषय इतना गहन है और विशाल है, कि इसका यथावत वर्णन करना कठिन ही नहीं असंभव है। यह विषय तो अनुभव का है, वैखरी वाणी में वर्णन करने से इसका स्वारस्य नष्ट हो जाता है, जैसे देववाणी का पूर्णभाव प्राकृत भाषा में नहीं आ सकता, उसी प्रकार प्रभु प्रेम का वर्णन इस लौकिक भाषा में किया ही नहीं जा सकता। यदि करेंगे, तो उसमें लौकिकता आ जायगी। जो वर्णन करेंगे वही प्रेम नहीं है। जैसे उँगली से चन्द्रमा को दिखावें 'देखो वह मेरी उंगली के सम्मुख उस पेड़ के ऊपर चन्द्रमा है।' तो न तो उस पेड़ पर चन्द्रमा है न उँगली के सम्मुख। केवल इन दो संकेतों से दृष्टि को चन्द्रमा की ओर आकर्षित करना है। इसी प्रकार प्राकृत भाषा में जो मैं प्रेम के सम्बन्ध में कहूँगा, वह केवल प्रेम की छाया मात्र होगी। उसी के द्वारा उस अद्भुत रस का अनुमान करके अनुभव किया जा सकता है।"

प्रेम किसके हृदय में उदय होगा, कब उदय होगा, किस कारण उदय होगा, कहाँ उदय होगा इन बातों का कोई नियम नहीं। किसी के सम्बन्ध में सुनकर पढ़कर या अन्य किसी द्वारा परिचय पाकर हृदय में उसके प्रति आकर्षण होता है। जिसके

प्रति आकर्षण होता है, उसका नाम प्यारा लगने लगता है। किसी के मुख से उसकी चर्चा सुनें, उसका किसी भी प्रसंग में नाम आ जाय, तो सुनते ही अनुरागी चौंक उठता है। कान चाहते हैं, उसकी चर्चा ही सुनने को मिले। प्रेम का स्वरूप है एक स्थिति में सन्तुष्ट न रहना। प्रेम नित्य नवीनता चाहता है। प्रेम प्रति क्षण बढ़ने वाला होता है। प्रेम और मोह की यही पहिचान है। किसी से मोह हुआ वह कुछ दिन में घट जाता है—टूट जाता है। मोह के क्षय का ही नाम मोक्ष है। ज्ञान होने पर मोह सभी का नाश हो जाता है, किन्तु प्रेम तो बढ़ता ही जाता है। उसमें ह्रास कभी होता ही नहीं। कहाँ तक बढ़ता है, उसकी कोई सीमा भी तो होगी, कहीं उसका पार भी तो होगा। नहीं, उसकी कोई सीमा नहीं, निस्सीम है, उसका पार नहीं। बढ़ता ही जाता है, बढ़ना ही जाता है। बढ़ते रहना ही उसका स्वभाव है, धर्म है, प्रकृति है। जैसे लोभी के पास कितना भी धन आ जाय, उसकी तृप्ति ही नहीं होती। नित्य ही उससे अधिक प्राप्त करने की अभिलाषा उसके हृदय में बनी ही रहती है। हृदय में जब प्रेम उत्पन्न हो जाता है, तब इच्छा होती है एक बार उसे देख लें बस, और हम कुछ नहीं चाहते। जहाँ उसको देखा, तहाँ मन खो जाता है, नेत्र पगले हो जाते हैं। चित्त चाहता है एक बार उसे आँखें भरके और देख लें, किन्तु प्रेमास्पद को देखने से कभी आँखें भरती ही नहीं, प्रत्युत और अधिक विकल बन जाती हैं। चित्त चाहता है, सदा उसे निहारा करें, पल भर भी वह हमसे पृथक् न हो हमारे सम्मुख खड़ा ही रहे। किन्तु जिससे हम प्रेम करते हैं, वह हमारी चाही बात को करे ही ऐसा कहने का हमें अधिकार ही क्या है। वह भी तो स्वतन्त्र है। वह हमें चाहता भी है या नहीं इसमें भी सन्देह है। वह चाहो, मत चाहो। प्रेम को सदा एकाङ्गी कहा है और अन्धा भी। प्रेम किसी गुणों की अपेक्षा

नहीं रखता। जो गुणों की अपेक्षा रखकर प्रेम होता है उसका नाम है श्रद्धा। किसी का बड़ा प्रभाव है, उसके प्रभाव को देखकर हमारी उस पर श्रद्धा हो गयी, कोई बड़ा त्यागी है, तपस्वी है, सुन्दर है, विद्वान् है। जहाँ उसमें वे गुण न रहे, त्यागी से रागी हो गया, कुरूप हो गया, तपस्वी से भोगी बन गया अथवा बुरे कर्मों से प्रभाव घट गया, तो हमारी श्रद्धा भी घट जायगी। किन्तु प्रेम में ऐसी बात नहीं। प्रेमी तो कहता है वह सुन्दर हो या कुरूप हो, गुणी हो, निर्गुण हो, हमें प्यार करे चाहें ठुकरावे। अपनावे चाहे घृणा करे हमारा तो सर्वस्व वही है, इतना सब होने पर भी सम्भव नहीं, कि जिसे हम प्यार करते हों, वह सदा हमसे तटस्थ ही बना रहे। लोक में भी देखा गया है, बड़े-बड़े त्यागी विरागी भी प्रेम के आकर्षण के सम्मुख झुक जाते हैं, तो फिर नन्दनन्दन तो रसिक-शेखर ही ठहरे। वे तो प्रेम के एकमात्र स्वरूप ही हैं। प्रेम ही उनका आहार है। उनकी समस्त चेष्टायें अपने प्रेमियों के निमित्त हैं। प्रीति की रीति को वे जानते हैं।

जिसके प्रति हृदय में प्रेम उत्पन्न हो जाता है, उसे, देखने को आँखें अधीर बनी रहती हैं। जिस मार्ग से वह निकलता है, वहाँ प्रहरों खड़े-खड़े उसकी प्रतीक्षा करते रहते हैं। यद्यपि यह भी विदित है, कि इधर से वह नित्य नहीं निकलता, कभी-कभी जाता है, किन्तु उसे कभी का निश्चय तो नहीं अभी आ जाय, अतः तनिक पत्तों की खड़खड़ाहट हुई कि चित्त धड़कने लगता है, नेत्र उसी ओर अपने आप मुड़ जाते हैं, इस प्रतीक्षा में कितना सुख है, इसे वही अनुभव कर सकता है जिसने कभी किसी की प्रतीक्षा की हो।

व्रज की समस्त गोपाङ्गनाओं का श्यामसुन्दर के प्रति सहज अनुराग था। जिनका वात्सल्य भाव था वे बालक समझकर प्यार करतीं। जिनका मधुरभाव था, वे श्रीकृष्ण को प्रेष्ठ समझकर

प्यार करतीं। इन व्रजाङ्गनाओं में बहुत-सी ऐसी थीं, जो कुमारी थीं। और श्रीकृष्ण को पतिरूप में प्राप्त करना चाहती थीं। कुछ ऐसी थीं कि उनके लौकिक पति भी थे। एक पति को छोड़कर जो दूसरे पति से सम्बन्ध स्थापित करती है उसे व्यभिचार दुष्टा कहते हैं। उपपति का नाम जार है। इसीलिये इस सम्बन्ध को जार सम्बन्ध कहते हैं। किन्तु यह बात साधारण लोगों के सम्बन्ध में है। सर्वान्तर्यामी प्रभु में जिनका पति सम्बन्ध है वह तो वास्तविक ही सम्बन्ध है। लौकिक दृष्टि से इसे जार सम्बन्ध कहते हैं। भाषा तो लौकिक ही बात कह सकती है। प्रेम के मर्म को व्यक्त करने के लिये तो उसके समीप शब्द कोष ही नहीं।

गोपियों में कई प्रकार की गोपियाँ हैं, कुछ तो नित्य परिकर की जो श्रीकृष्ण के यथार्थ स्वरूप को समझती है, वे जानती हैं-श्रीकृष्ण गोपिकानन्दन ही नहीं, वे अखिल प्राणियों की अन्तरात्मा रूप हैं। कुछ ऐसी हैं जो श्रीकृष्ण को परमश्रेष्ठ समझकर प्यार करती हैं। कुछ ऐसी हैं, जो उनके यथार्थ स्वरूप को भली-भाँति न जानकर उनके ऊपर आसक्त हैं। उनकी रूपमाधुरी वेणुमाधुरी और लीलामाधुरी से आकृष्ट हैं। वे श्रीकृष्ण के दर्शनों के लिये अहिर्निशि व्याकुल बनी रहती हैं। लोक दृष्टि में तो श्रीकृष्ण की अवस्था ९-१० वर्ष की ही है, किन्तु मधुर भाव की उपासिकाओं के लिये वे नित्य किशोर हैं, इस रहस्य को वात्सल्य भाव की उपासिका गोपिकायें नहीं समझ सकतीं।

घर के भीतर रहने वाली गोपिकायें इच्छा रहने पर भी निरन्तर श्रीकृष्ण से नहीं मिल सकतीं। श्रीकृष्ण ठहरे स्वच्छन्द-विहारी, वे ठहरीं अंतःपुर में रहने वालीं। श्रीकृष्ण की झाँकी के तीन ही अवसर थे। एक तो जब वे घर से मटुकिया लेकर पनघट पर जल भरने जायँ तब, दूसरे गोशाला में गोबर उठाने दूध दुहने जायँ तब और तीसरे दधि बेचने जायँ तब। इन तीन अव-

नरों के अतिरिक्त समय में निकलें तो सास, ननद अनेक प्रकार की शंका करेंगी। एक की दश बातें बनायेंगी। लोग भी बुरा भला कहेंगे। घर द्वार में भाँति-भाँति की चकल्लस होने लगेगी। यद्यपि प्रेम की उत्कटता इन बन्धनों को महत्व नहीं देती फिर भी ये बन्धन प्रेम के पोषक ही हैं। प्रेम की सब बातें रहस्यमयी होती हैं, उनका वर्णन संकेत में ही होता है। पत्नी पति को अपना सर्वस्व समर्पित कर देती है। इस बात को सभी जानते हैं, फिर भी सबके सम्मुख पत्नी पति को नहीं देखेगी। जब देखेगी भी तो घूँघट की आट से देखेगी। उस घूँघट की ओट से देखने में भी एक अपूर्व सौन्दर्य है।

हाँ, तो जब दर्शन हो गये फिर स्पर्श की इच्छा होती है। लाभ से लोभ बढ़ता है। चित्त चाहता है किसी प्रकार श्याम के श्रीअङ्ग का स्पर्श हो। उनकी प्यारी मधुर वाणी सुनने को मिले। वे यह जानती हैं श्याम कभी-कभी पनघट की ओर जाते हैं। व्रज में व्रजवासी स्त्रियाँ ही पानी भरने जाती हैं। यमुनाजी समीप होने से यमुनाजी से जल भरकर लाती हैं। दूर होने से कूप से लाती हैं। व्रज में पनघट का जैसा दृश्य होता है वैसा संभवतया किसी भी देश में न होता होगा। व्रज की मृत्तिका अत्यंत चिकनी है। वहाँ खपरैल तो कोई जानता ही नहीं। वहाँ मिट्टी के ही घर होते हैं। लकड़ी की सोटकड़ी लगाकर मिट्टी से ही छाये जाते हैं। और वे मिट्टी की छतके ही घर सैकड़ों वर्ष चलते हैं। जल भरने और जल खींचने के वर्तन भी सब मिट्टी के ही होते हैं। लोहे या टीन के डोलों की अब प्रथा चली है। पहिले मिट्टी की कलशी से ही पानी खींचते थे। मिट्टी के माटों में ही सब पानी भरकर रखते थे। स्त्रियाँ आटा पीसकर, दही बिलोकर तब जल भरने जाती हैं। चूल्हा चक्की का काम तो घर के भीतर होता है, वह मैले कपड़ों से भी हो सकता है। पानी भरने तो बाहर जाना है, अतः नवीन

वस्त्र पहिनकर जाती हैं। बड़ी बूढ़ी स्त्रियों का काम होता है-बहुओं पर आज्ञा चलाना। उनके काम में दोष देखना। ऊपर के काम भी हैं। बहू रोटी बनाती जायगी, तो सास परसती जायगी। सास के रहते बहू परस नहीं सकती। जल भरने बूढ़ी तभी जायँगी जब उनके घर में बहू न हो। एक तो यह श्रम का काम है दूसरे जल भरना, रोटी बनाना यह युवता बहुओं या सयानी लड़कियों के ही भाग का काम है। जल भरने जायँगी, तो सुन्दर घूमघुमारा लँहगा पहिनेंगी। चटकीली रङ्ग बिरङ्गी चुनरी ओढ़ेंगी। जूड़े को कसकर बाँधेंगी। एक हाथ लम्बा घूँघट निकालेंगी। सिर पर इँडुरी रखकर उस पर एक चपटा (बड़ा मिट्टी का) घड़ा रखेंगी। उस पर दूसरा फिर उस पर एक छोटी कलशी। एक कलशी बगल में दबावेंगी। रस्सी गगरी के ऊपर रखकर कमर को लचाती हुई दो उँगलियों से घूँघट में से देखती हुई जायँगी। प्रायः एक ही समय सब जाती हैं। रङ्ग-बिरङ्गी साड़ियों को ओढ़े व्रज की नारियाँ पनघट पर ऐसी लगती हैं मानो स्वर्ग के सरोवर के समीप बहुत-सी अप्सरायें बैठी हों। यही समय मिलता है कि उन पर सास ननद का शासन नहीं रहता। पानी भरने जाते और आते समय वे पेट भर परस्पर में बातें कर लेंगी। अपना दुख सुख एक दूसरी को सुना देंगी। अतः यह समय बड़ा सुखद समझा जाता है।

अब समस्त व्रज में एक ही चर्चा थी, श्रीकृष्ण के सौन्दर्य माधुर्य की। श्रीकृष्ण जिस समय पनघट की ओर जाते, दर्शनों के लालच से व्रजांगनायें भी उसी समय जल भरने जातीं और प्रहरों प्रतीक्षा करती रहतीं। जिस दिन श्यामसुन्दर के दर्शन हो जाते, उस दिन वे अपने जीवन को धन्य समझतीं। जिस दिन दर्शन न होते उदास हो जातीं और फिर दूसरे दिन उसी समय तक प्रतीक्षा करती रहतीं। अब दर्शनों से ही शान्ति न होती।

एक दिन किसी ने कहा—"श्यामसुन्दर ! हमारी गगरी तो उठा दो।" श्याम ने बड़े चाव से गगरी उठा दी। रस्सी थमा दी और भूल में उनका हाथ भी गोपी के अंग से छू गया।

अब तो सबको साहस हुआ, सभी गगरी उठवाने लगीं। अब श्याम भी लोटा डोर लेकर जल खींचने लगे। वे यमुनाजी को छोड़कर लोटा डोर से जल क्यों खींचते हैं जी ?

अब क्यों खींचते हैं, यह तो उनसे ही पूछो। प्रेम में कुछ काम प्रेम के ही लिये किये जाते हैं। उनमें क्यों का प्रश्न उठता ही नहीं। कभी-कभी कृष्ण गगरी उठाते समय कलशी को टेढ़ी कर देते गोपियाँ भीग जातीं, वे श्याम को बुरा-भला कहतीं श्याम हँस जाते। इससे उनका साहस और बढ़ा। अब केवल दर्शन स्पर्श से ही सन्तोष न होता, प्रेम कलह भी होती। प्रेम में बातें करने से कभी मन नहीं भरता। चित्त यही चाहता रहता है दिन रात बात ही करते रहें। उन बातों का कोई अर्थ नहीं। कोई भी बात क्यों न हो। इस प्रकार पनघट की लीला अनेक प्रकार की होती है। मुनियो ! ब्रज के रसिक भक्तों ने पनघट लीला को अनेकों प्रकार से वर्णन किया है। उसका मैं विस्तार करूँ, तो वर्षों इसी में बीत जायँ, फिर भी वह पूरी न होगी, अतः मैं इस प्रसंग को यहीं छोड़ता हूँ।

जब चित्त में किसी की सूरत गड़ जाती है, तो फिर चित्त निरन्तर उसी का चिन्तन करता रहता है। अब गोपियाँ घर के काम-काज तो सब करतीं। गृहिणी होकर घर के कामों से अवकाश मिल ही कैसे सकता है, किन्तु चित्त सबका चितचोर की ही ओर लगा रहता। किसी भी काम से बाहर जातीं। गोबर पाथने, गोशाला बुहारने, दूध दुहने अथवा किसी के घर से दही मठा लाने या कोई वस्तु देने, तो इधर-उधर देखती रहतीं, कहीं श्याम तो नहीं आ रहे हैं। आ जाते, एक बार दीख जाते तो नेत्र हरे हो

जाते। 'क्यों जी ! श्याम तो देखे भाले हैं उन्हें बार-बार देखने से क्या लाभ ? देखी वस्तु के लिये इतनी अधीरता क्यों ? देख ही लिया तो क्या मिल गया ? अब तुम्हारे इन सूखे प्रश्नों का क्या उत्तर दें। छोटे-छोटे दो-दो चार-चार वर्ष के बच्चे बच्चियों की बुद्धि में प्रणय संकेत आ ही नहीं सकते। प्रेम में प्रतिक्षण नवीनता होती है। आँखों का आहार प्रिय वस्तु को देखना ही है। नाक फूलों को खाती नहीं उनकी सुगन्धि लेकर ही तृप्त हो जाती है, इसी प्रकार नेत्रों को प्रिय के दर्शन हो जायँ, मानों सब कुछ मिल गया। जैसे लोभी को कितना भी धन दे दो, उसकी तृप्ति न होगी। अग्नि में कितना भी ईंधन डालते जाओ उसकी तृप्ति न होगी, इसी प्रकार नेत्र प्रिय दर्शन से कभी तृप्त नहीं होते। अभी पनघट पर देख लिया है। घर के द्वार पर आकर फिर एक बार झाँककर मुड़कर देखा कहीं आते तो नहीं। जब भी घर से निकलना हुआ इधर-उधर देख लिया। कहीं मुरली की धुनि सुनाई दी दौड़कर छत पर चढ़ गई। सास चिल्लाती है—"बहू रसोई छोड़कर कहाँ गयी?" वह वहीं से कहती है—"गीले कंडों में आग नहीं जलती। छत पर देखने गई हूँ कोई सूखा कंडा हो तो ले आऊँ।" हाथों से कंडों को भी उलटती पलटती है, किन्तु नेत्र चञ्चलता पूर्वक इधर-उधर देख रहे हैं। यदि श्याम दीख गये, तब तो श्रम सफल हो गया, जब तक दीखते रहे देखती रहीं। जब आँखों से ओझल हो गये, तब उतर आई। यदि न दिखाई दिये तो अन्यमनस्क भाव से आकर फिर घर के कामों में लग गई।

एक अवसर दही बेचने के समय भी मिलता था। पहिले समय में जो जिस काम को करता था, राजा उससे उसी वस्तु का शुल्क लेता था। जैसे तैली है, तो राजा उससे शुल्क तेल के रूप में ही लेगा। कृषक है तो उससे उपज का छठा अंश अन्न लेगा।

साक बोता बेचता है, तो उसे राजकर के रूप में साक ही देना पड़ेगा। व्रज के राजा नन्दजी थे। अब तक उनके कोई बच्चा नहीं था, अतः वे राजकर की ओर ध्यान नहीं देते थे। कोई घर आ कर दूध, दही, माखन दे गया तो ले लिया। न दिया तो किसी से माँगते नहीं थे। अब तो नन्दजी के लाला हो गया। लाला भी बड़ा सयाना। किसके घर में कितनी रोटियाँ बनी हैं, किसका साग बना है, इन सबका उसे पता रहता। वह ऐसा अंधेर क्यों होने देने लगा, नन्द के लाला ने आज्ञा प्रसारित कर दी—"कोई गूजरी बिना दधि का दान (शुल्क) दिये बेचने न जा सकेगी।" आज्ञा निकालकर ही आप सन्तुष्ट न हुए, ग्वालबालों की सेना लेकर आप स्वयं प्रधान मार्ग पर जा बैठते और जो भी गूजरी निकलती, उसी से छेड़खानी करते। गोपियाँ तो यह चाहती ही थीं। इसीलिये वे स्वेच्छा से प्रसन्नतापूर्वक श्रीकृष्ण को दान नहीं देती थीं। श्रीकृष्ण भी सीधे साधे लेना नहीं चाहते थे। वास्तव में न तो श्रीकृष्ण को ही दूध, दही, मक्खन का लोभ था और न गोपिकाओं को देने में ही कोई आपत्ति थी। जब वे अपना तन, मन, धन सर्वस्व श्रीकृष्ण को अर्पण कर चुकी हैं, तो फिर दूध दही तो उन्हीं का है। वे दूध दही के लोभ से मना नहीं करती थीं। श्रीकृष्ण से कलह करने में इन्हें आनन्द आता था। इसी बात को उपलक्ष्य बनाकर वे उनसे बहुत-सी बातें कर सकती थीं। कोई कहती—"तुम्हें दान लेने का अधिकार ही क्या है। तुम्हारे बाप तो कंस को वार्षिक कर देते हैं। वास्तविक राजा तो कंस हैं, वे ही हमसे कर ले सकते हैं। बीच में तुम माँगने वाले कौन ?" कोई कहती—"तुम हमारा क्या शासन करते हो, दान ही लेने को हो, कि हमारे-दुःख भी दूर करते हो।" कोई कहती—"तुम आधे से अधिक तो दूध दही दान में ले लेते हो। हम बेचेंगी क्या ? कोई-कोई इनके सम्मुख ही बिना दान दिये चली जाती। आप

दौड़कर उसका पोंहचा पकड़ लेते और कहते—"बिना दान दिये ही चली जा रही है।" तब वह बनवारी से झूठा रोष दिखा कर कहती—"देखोजी, तुम राजकुमार होगे, तो अपने घर के होगे। यह बात अच्छी नहीं होती। तुम्हें जो कहना हो, दूर से कहा करो। आगे तुमने कभी मेरे शरीर से हाथ लगाया, तो फिर बात अच्छी न होगी।" तब आप हँस जाते और उसके अंचल को पकड़कर कहते—"अरी, भाभी! बुरा मान गयी क्या ?" इस प्रकार यह नित्य ही एक अत्यन्त सरस मधुमय लीला होती। दस गाली श्रीकृष्ण देते दस गालियाँ गोपियाँ देतीं। ये प्रेम की मीठी गालियाँ मधु से भी अधिक मीठी और हलुआ से भी अधिक कोमल होतीं। इस प्रकार मुनियो! प्राचीन कवियों और रसिकों ने इस रस-दान लीला का बड़े ही विस्तार के साथ वर्णन किया है। मैं यदि इस विषय का विस्तार करूँ, तो दान लीला में ही कथा समाप्त हो जायगी। अतः इस प्रसंग को यहीं समाप्त करता हूँ।

गोपियाँ ही श्रीकृष्णचन्द्र से मिलने को उत्सुक रहती हों, सो बात नहीं। श्रीकृष्ण भी उनसे मिलने को सदा लालायित बने रहते, किन्तु जो कठिनाइयाँ गोपियों के सामने थीं, वे ही श्रीकृष्ण के सामने भी थीं। जिनसे पनघट पर, गोशाला में तथा दधिदान लेते समय भेंट हो जाती, उनसे तो मन की बात कह लेते, उन्हें आँख भरकर देख भी लेते। किन्तु जो बड़े घर की बेटी हैं। जो इन कामों के लिये बाहर जाती ही नहीं, उनसे भेंट कैसे हो? किसी के घर जायँ, तो चौपाल पर बैठे गोप ही बुलाकर बिठा लेंगे। घर में भी जैसे तैसे घुस गये, तो पोपले मुख को बार-बार हिलाती हुई बुढ़ियाँ ही प्रश्नों की झड़ी लगा देंगी "बेटा! किस लिये आया? नन्दरानी अच्छी है? तेरा विवाह कब होगा?" उन आपत्ति की मारी डोकरियों से पूछे—"अरे, हम

आये हों, तू अपना काम देख, तुझे नन्दरानी से प्रेम है, तो स्वयं जाकर उसकी कुशल क्षेम पूछ आ। हमारे काम में रोड़े क्यों अटकाती है।" किन्तु बड़े बूढ़ों से पूछे कौन। सफेद बालों के सम्मुख काले बाल वाले बोल नहीं सकते। इन्हीं सब झन्झटों के कारण श्रीकृष्ण को छद्मवेष बनाने पड़ते। वे भी छद्म ऐसे कि बिना रोक-टोक अन्तःपुर में प्रवेश कर सकें। कभी देखते मेरी प्यारी देवी पूजन को गई हैं, तो आप भी लुगाई का वेष बनाकर घूँघट मारकर पूजा घर में घुस जाते। कभी नई दुलहिनि बनकर पैरों के कड़े-छड़े और पाइजेबों को बजाते नाइन के साथ घर में घुस जाते। कभी गोदने वाली बनकर गोदने के लिये चले जाते। कभी सुनारिनि बनकर आभूषण देने नया गहना बनाने को निर्भय होकर अन्तःपुर में घुस जाते। कभी मनहारिनि बनकर चुरी पहिनाने चले जाते, इसी मिस से उनके करों का स्पर्श कर लेत। कभी मालिनि बनकर गजरे हार बेचने चले जाते। कभी विसायितिनि बनकर कंघी, दर्पण, सुरमा आदि वस्तुएँ दिखाने भीतर ले जाते। मोल भाव में ही उनसे प्रेम की बातें कर लेते। कभी चुटीला बेचने वाली पटविनिका वेष बनाकर झब्बादार चुटीला बेचने भीतर घरों में घुस जाते। बूढ़ी डुकरियाँ चुटीलाओं का क्या करेंगी। यह तो युवतियों के ही काम की वस्तु है। कभी तमोलिनि बनकर पान बेचने ही आ जाते। कभी नाइन बनकर चोटी करते। वेणी में फूल लगाते, पैर दाब देते। पीठ मल देते। कभी वैद्यनि बनकर नाड़ी देखते, ओषधि बना देते और हाथों से आँखों की पलकों को उठा, उठाकर, बात, पित्त, कफ की परीक्षा करते, छाती की धड़कन पर हाथ रखकर बड़ी देर तक उसकी परीक्षा करते रहते। कभी तोता मैना लेकर घर-घर खेल दिखाने वाली बन जाते। कभी नटी बनकर गाते बजाते और नाच दिखाकर प्यारी को रिझाते। कभी गन्धिनि बनकर तेल फुलेल

बेचते। ढाँढिनि बन जाते, कभी बीना वाली बनकर घर-घर बीना बजाते फिरते। सारांश यही, कि अपनी प्यारी से मिलने को ये भी नाना वेष बनाते और अपने नेत्रों को तृप्त करते। इस प्रकार दोनों ओर अनुराग होने से उत्सुकता बढ़ती ही जाती थी।

श्यामसुन्दर का रूप इतना अधिक आकर्षक था, कि जो देखती वहीं बिना मूल्य के बिक जाती, बहुत-सी मूर्छित हो जातीं। कोई कहती—"श्याम! मेरी सखी मूर्छित हो गयी है, तुम कुछ जन्त्र, मन्त्र, झाड़, फूँक, जादू, टोना जानते हो तो बताओ।" श्याम कहते—"हाँ मैं एक मन्त्र जानता हूँ। उससे उसे तुरन्त चेत होयगा।" यह कहकर वह उसके समीप जाते और उसके कान में कह देते—"आगामी शरदृऋतु की रात्रियों में तुम मेरे साथ रास विलास करोगी।" इतना सुनते ही उस चेत हो जाता। वह बड़ी उत्सुकता से शरद् की उन सुहावनी रात्रियों की प्रतीक्षा करती। अब सर्वत्र हल्ला हो गया। नन्द-नन्दन को एक ऐसा मन्त्र सिद्ध है, कि कोई कितनी भी मूर्छित हो, वह तुरन्त अच्छी हो जाती है। अब तो जिसे भी विकलता-मूर्छा होती, झट सखियाँ श्यामसुन्दर को बुला ले जातीं, ये उसके कान में इसी मन्त्र को पढ़ देते। वह उसी समय चंगी हो जाती।"

एक बुढ़िया थी, उसे सन्देह हुआ कि यह नन्द का छोरा न जाने बहुओं के कान में कौन-सा मन्त्र पढ़ता है। मन्त्र क्या है जादू है। तुरन्त अच्छी हो जाती हैं, लाओ, मैं भी तो देखूँ। एक दिन वह भी झूठ-मूठ को मूर्छित हो गयी। उसकी बहू दौड़ी-दौड़ी घनश्याम के पास गयी और बोली—"लालजी! आज मेरी सास मूर्छित हो गयी है उसके कान में भी मन्त्र फूँक दो।"

श्यामसुन्दर बोले—"मेरा मन्त्र सफेद बालों पर लगता नहीं।"

बहू ने कहा—"लालाजी! टालमटोल मत करो। चलो, देखो वे तो संज्ञा शून्य पड़ी हैं।"

उसके आग्रह को श्यामसुन्दर कैसे टाल सकते थे। गये, उसके पास जाकर देखा उसे। उन सर्वान्तर्यामी से क्या छिप सकता है। सब समझ गये। बोले—"इस पर तो भूत चढ़ा है। भूत की भी मैं ओषधि जानता हूँ, देखो भूत अभी चिल्लाता है।" यह कहकर आपने बुढ़िया की पींठ में जोर से नोंच लिया। बुढ़िया चीख उठी। बहू ने कहा—"लालाजी! यह क्या कर रहे हो?"

आप झूठी गम्भीरता दिखाते हुए बोले—"तू बोले मत। यह तो भूत चिल्ला रहा है। एक टोकरी लाओ। उसमें इसे बिठाकर बाँधकर कूँए में लटकायेंगे। और एक साथ १००–५० गोते लगा-येंगे तब भूत भागेगा।"

जाड़े के दिन थे, बुढ़िया डर गयी। उसने चिल्लाकर कहा—"मेरे ऊपर भूत फूत कुछ नहीं है, मैं तो भली चंगी हूँ। मुझे बाँधकर कूँए में मत लटकाओ।"

यह सुनकर आप हँस पड़े और बोले—"देखो, भूत कहते ही भाग गया।"

इस प्रकार सम्पूर्ण व्रजमण्डल की युवतियों में यह बात फैल गई, कि श्यामसुन्दर शरद् की रात्रियों में रास आरम्भ करेंगे और यह आश्विन की शरदपूर्णिमा से आरम्भ होगा। वे श्याम-सुन्दर के संगम की प्रतीक्षा में उन घड़ियों को युग के समान बिताने लगीं। श्रीकृष्ण के संगम की तिथि की अत्यन्त उत्सुकता के साथ बाट जोहने लगीं, दिन गिनने लगीं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! मैं बार-बार सावधान करता रहूँगा, वे किसी साधारण व्यक्ति से मिलने को उत्कण्ठित नहीं

थीं। जिनसे मिलना चाहती थीं, जिनके साथ क्रीड़ा करने को लालायित थीं, वे भगवान् हैं। सर्वान्तर्यामी ईश्वर हैं।"

गोपी ही उत्सुक हों, सो बात नहीं, भगवान् भी बड़े उत्सुक थे। वे भी शरद् की उन रात्रियों की प्रतीक्षा में दिन गिन रहे थे। कात्यायिनी व्रत करने वाली कन्याओं को भी वही तिथि बता रखी थी।

दिन गिनते-गिनते वर्षा बीत गयी। क्वार में आकाश स्वच्छ हो गया। कीच सूख गयी। यमुनाजी का जल जो वर्षा के कारण मट मैला हो गया था, अब उसकी मिट्टी बैठ गयी। वह निर्मल हो गया। वृन्दावन में चारों ओर श्वेतमल्लिका (सफेद चमेली) सुवर्ण मल्लिका (पीली चमेली) की सुगन्धि फैल गयी। न बहुत गरमी थी न जाड़ा, बड़ा ही सुखद रमणीय समय था।

यह सुनकर शौनकजी ने कहा—"सूतजी! वैसे शरद्ऋतु में मल्लिका फूलती है, किन्तु शरद् में मल्लिका का वर्णन काव्यों में अप्राप्य है, फिर आपने मल्लिका का वर्णन क्यों किया ?"

सूतजी बोले—"महाराज! भगवान् तो लोक वेद दोनों से परे हैं। शरद् में मल्लिका न भी फूलती हो, तो भी भगवान् की इच्छा होते ही फूल जायगी। ये सब सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र, तारे तथा चराचर विश्व के जीव उनके ही संकेत से घूम रहे हैं। प्रकृति उनकी इच्छा में ही इच्छा मिलाकर हँसती है। जब उस दिन की प्रतीक्षा में समस्त व्रजाङ्गनाओं के मनमुकुर खिल रहे थे, तो मल्लिका बिना खिले कैसे रह सकती थी, सबको प्रसन्न देखकर वह भी प्रसन्न हो उठी, वह भी खिल गयी। उसने भी अपनी सुगन्धि से समस्त वृन्दावन की रासस्थली को सुगन्धिमय बना दिया। भगवान् किसी साहित्य, संगीत या कला के अधीन होकर काम नहीं करते, वे सब तो उनका अनुसरण करते हैं। उस रासपूर्णिमा के आने पर जो पुष्प नहीं भी खिलते थे—जिनके

खिलने की वह ऋतु नहीं भी थी—वे भी खिल गये। वृन्दावन का वायुमण्डल सुगन्ध से भर गया।

गोपियों का मन उस दिन बाँसों उछलने लगा। आज श्यामसुन्दर हमारी चिर दिन की अभिलाषाएँ पूर्ण करेंगे। आज उनके हृदय से हृदय सटाकर हम सम्मिलित सुख का रसास्वादन करेंगी। आज हमारे समस्त मनोरथ मिट जायँगे, आज हमारी चिरकाल की साध पूरी हो जायगी। वे अकेली ही उन शारदीय रात्रियों को देखकर उत्सुक हो रही हों, सो बात नहीं। भगवान् भी उसी प्रकार उत्सुक हो रहे थे। उनके मन में भी रमणियों के साथ रमण करने की उत्कट इच्छा जागृत हो रही थी। शरद् की पूर्णिमा को देखकर आप्तकाम, परिपूर्ण आत्माराम भगवान् ने भी रास करने की इच्छा की।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! इच्छा तो उसे होती है, जिसे उस विषय से तृप्ति न हो। जैसे हमने रबड़ी खायी। बड़ी स्वादिष्ट लगी। इच्छा हुई फिर खावें। अथवा किसी से रबड़ी की प्रशंसा सुनी, तो हमारे मन में भी इच्छा हुई हम भी उसका रस चखें। इच्छा होना अपूर्णता का चिह्न है। जो परिपूर्ण है—आप्तकाम है, उसे इच्छा क्यों हुई? आप कह देते हैं—बालक की भाँति वे क्रीड़ा करते हैं, किन्तु बालक को भी तो खेलने की इच्छा होती है। खिलौने आदि सामान जुटाता है, वह भी यह अपूर्णता ही है। श्रीकृष्ण तो परिपूर्ण हैं उनको इच्छा होना तो बनता नहीं।"

हँसकर सूतजी बोले—"क्यों महाराज! पूर्ण है तो उसके मन में पूर्णता की इच्छा है, वह पूर्ण के साथ खेलेगा। उसको अन्य साधनों की अपेक्षा नहीं। मकड़ी अपने आप जाला बनाकर उसमें विहार करती है। जब चाहती है उसे निगल जाती है।

कृष्ण निर्गुण ब्रह्म के समान गुम्म-सुम्म सत्तू के लड्डू तो हैं ही नहीं। वे तो निर्गुण होकर भी सगुण हैं, सरस हैं, मधुर हैं। अपने आप में रमण करते हैं, हँसते खेलते हैं, क्रीड़ा करते हैं। इसमें उनकी परिपूर्णता में अथवा आत्मकामता में तो कोई विघ्न नहीं पड़ता है।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! परिपूर्णता में चाहे कुछ विघ्न न पड़े, किन्तु जो एक है, अद्वितीय है, निरीह निर्विकल्प है उसमें खेल बनता ही नहीं। अकेला भला कहाँ खेल सकता है। एकाकी कहीं रमण हो सकता है।"

सूतजी बोले—"हाँ महाराज! यह तो सत्य है, एकाकी नहीं होता, कुछ न कुछ आश्रय चाहिये। भगवान् ने अपनी माया का आश्रय लेकर ही रमण की इच्छा की।"

यह सुनकर चौंककर शौनकजी बोले—"अजी, सूतजी! यह क्या कह रहे हो तुम! मायातीत भगवान् में माया कहाँ से आ गयी। इस राँड माया ने हमें ही जमूड़ा बना रखा है। भगवान् का भी इसने पिंड नहीं छोड़ा क्या?"

यह सुनकर सूतजी खिलखिलाकर हँस पड़े और बोले—"भगवन्! आप माया से बहुत डरते हैं। वास्तव में लोग माया को जितनी बुरी वस्तु समझते हैं, उतनी बुरी वह है नहीं। यह जितना खेलमाल, लीला क्रीड़ा व्यापार है सब माया के ही आश्रय से तो है। जो भी कुछ सम्भव है माया के आश्रय से ही सम्भव है। वह माया तीन प्रकार की होती है। एक जगन्मोहिनी माया। जिससे मोहित हुआ जगत् बिना सोचे समझे कार्य में लगा है। यह मैं हूँ, यह मेरा है जिस माया से ऐसी बुद्धि होती है वह रजोगुण और तमोगुण प्रधान माया है। एक भक्त मोहिनी माया होती है, जिससे मोहित होकर भक्त भगवान् को चाहते हैं, वे उसी के अधीन होकर भगवद्भक्ति करते हैं, वह शुद्ध

प्रधान माया है। एक तीसरी भगवान् को भी मोहने वाली माया है, जिसमें गुणों का लेश भी नहीं। उसे 'सीता' कहो, 'राधा' कहो श्रीजी कहो। जो चाहो सो कहलो। यह माया भगवान् को भी वन-वन घुमाती है। इसी के आश्रय से भगवान् कठपुतली की भाँति नाचते हैं। इन्हीं के आश्रय लीला है, क्रीड़ा है, रास है, विलास है, हास है, परिहास है। कथन है, श्रवण है। इनके बिना श्रीकृष्ण "ठन ठनपाल मदन-गुपाल कहलाते हैं।" उसी योगमाया का आश्रय लेकर रासेश्वर भगवान् ने रास करने की इच्छा की। आप माया से इस संसार को चलाने वाली रजोगुणी तमोगुणी माया को न समझें।

शौनकजी ने कहा—"हाँ, सूतजी! अब बात समझ में आ गयी। हाँ, तो फिर क्या हुआ। यह प्रसंग तो बड़ा सरस है। सूतजी! देखिये, इसके वर्णन में शीघ्रता न करें। हमें कुछ और काम काज तो है ही नहीं। कृष्ण कथा ही सुननी है। इसे ही सुनकर कालक्षेप करना है। अतः इस विषय को विस्तार के साथ वर्णन करें।"

सूतजी ने कहा—"महाराज! इस विषय का विस्तार कौन कर सकता है। रास एक दिन हुआ हो तो उसका वर्णन किया जाय। श्रीकृष्ण का रास तो नित्य है। वह तो अनादि काल से हो रहा है, अनन्त काल तक होता रहेगा और उसमें नित्य ही नवीनता है। वह तो वर्णन की वस्तु नहीं, अनुभव की वस्तु है। फिर भी गुरु कृपा से मैं यथामति यथाशक्ति अपनी वाणी को पवित्र करने के निमित्त इसका वर्णन करूँगा। आप सब समाहित चित्त से श्रवण करें।"

—०—

छप्पय

इत गोपिनि को चित्त कृष्णके रूप लुभायो।
करिबे रास बिलास श्याम उत मन ललचायो॥
अति सुखदायिनि शरद् पूर्णिमा की निशि आई।
सुषमा अति रमनीक दशहु दिशिमाँहि सुहाई॥
मनमोहन ने मोहिनी, माया को आश्रय लयो।
आप्तकाम परिपूर्ण को, मन क्रीड़ा के हित भयो॥

शारदीय शशि की सुषमा

[६६०]

तदोडुराजः ककुभः करैर्मुखम्
प्राच्या विलिम्पन्नरुणेन शन्तमैः ।
स चर्षणीनामुदगाच्छुचो मृजन्
प्रियः प्रियाया इव दीर्घदर्शनः ॥*

(श्रीभा० १० स्क० २६ अ० २ श्लोक)

छप्पय

अति निर्मल नभ भयो नीलिमा गहरी छाई ।
शारदीय शशि विहँसि चन्द्रिका शुभ छिटकाई ॥
प्राची दिशिकी ललित लालिमा लागे ऐसे ।
पति विदेशतैं आइ रँग्यो प्यारी मुख जैसे ॥
प्रिया रक्त पटतैं निकसि, पूर्ण चन्द्र निकसित भये ।
सूर्य ताप संताप दुख, निरखत शशि सब भगि गये ॥

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! शरद्पूर्णिमा के दिन अपनी शान्त किरणों के द्वारा लालिमा से प्राची दिशा के मुख को रंजित करता हुआ शशि उसी प्रकार उसे आनन्दित करता हुआ, जिस प्रकार बहुत दिनों में विदेश से लौटा नायक अपनी प्रिया के मुख कमल को कुंकुम रँग से रंजित करके उसे सुखी करता है । चन्द्र के उदय होते ही जीवों का सूर्य सन्ताप जनित ताप दूर हो गया ।"

संसार में सुख, दुख, अनुकूल प्रतिकूल, सभी कुछ सहना पड़ता है, द्वन्द्व का ही नाम तो संसार है। संसार की स्थिति के लिये सुख की भी आवश्यकता है और दुख की भी आवश्यकता है। दुख न हो तो सुख का अनुभव ही कैसे हो। प्रतिकूल न हो तो अनुकूल में आनन्द ही कैसे आवे। ग्रीष्म, वर्षा और शिशिर सभी ऋतु आवश्यक हैं। इन सबमें सुख भी है दुख भी है। गरमी न पड़े तो सूर्य अपनी किरणों से जल कैसे सोखें। वे जल न सोखें तो वर्षा कैसे हो। शीत न पड़े तो अग्नि प्रदीप्त कैसे हो? गरमी आवश्यक है, किन्तु गरमी में कितना कष्ट होता है प्यास लगती है, पसीना छूटता है, रहा नहीं जाता। इसी प्रकार जल जीवन है, किन्तु वर्षा होने से चारों ओर कीच हो जाती है। सील हो जाती है, अग्नि मन्द पड़ जाती है। सदा नभ में मेघ छाये रहते हैं, किन्तु वर्षा निकल जाने पर जब आकाश स्वच्छ निर्मल हो जाता है, कीच सूख जाती है, नदियों का जल स्वच्छ हो जाता है, पृथ्वी हरी-भरी शस्य श्यामला बन जाती है, तो उस समय का दृश्य अनुपम हो जाता है। इसीलिये साहित्य में सर्वत्र शारदीय पूर्ण चन्द्र की ही उपमा दी गई है। शरद् ऋतु का चन्द्रमा निर्मल स्वच्छ और परम सुखद होता है। सुनते हैं उस दिन चन्द्रमा में से विशेष अमृत स्राव होता है। उस दिन के चन्द्र के दर्शन का विशेष माहात्म्य होता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! क्वार कार्तिक की धूप अत्यन्त कड़ी होती है। कारण यह है कि आकाश तो निर्मल हो जाता है, उष्णता तो घनी ही रहती है। वर्षाकाल में आकाश में मेघ छाये रहने से छाया रहती थी। अब तो मेघ बरसकर—रीते होकर—भग गये। अब सूर्य की किरणें सीधी पड़ती हैं। उस ता[illegible] से पौधे मुरझा जाते हैं, हिरन काले पड़ जाते हैं, नर [illegible]

ज्वर आ जाता है। भैंसे जीभ निकालकर हाँपने लगते हैं। पक्षी विकल हो जाते हैं। सभी उस सूर्य ताप से संतप्त-बन जाते हैं, दिन में निकलना अत्यन्त कठिन हो जाता है। किन्तु जब चन्द्रमा अपनी कलाओं से युक्त प्राची दिशि में उदित होते हैं, तो उनके उदय होते ही समस्त प्राणियों के संताप मिट जाते हैं। जो दूसरों के सन्ताप को मेटें वे संत कहलाते हैं। उनका कैसा भी रूप रङ्ग हो, किसी वर्ण में जन्म हो, पहिले उनसे कैसे भी कार्य बन गये हों, यदि उन्होंने वर्तमान को सुधार लिया है, परोपकार का व्रत ले लिया है, तो उनके पिछले सभी अवगुण भुला दिये जाते हैं, वे सर्वप्रिय बन जाते हैं। चन्द्रमा को ही देखिये उसकी उत्पत्ति समुद्र से हुई है। इसका बड़ा भाई कालकूट विष है, क्योंकि समुद्र मन्थन के समय सर्वप्रथम विष ही निकला था। अमृत भी इसका भाई है किन्तु वह इससे छोटा है। इसे ससुर का शाप भी है। इसके शरीर में क्षय रोग भी है, नित्य घटता-बढ़ता रहता है। वियोगिनियों का तो यह वैरी ही है। इसे देखते ही वियोगिनियों का विरह दूना हो जाता है, उन्हें अपने प्राणपतियों की अत्यन्त स्मृति हो आती है, वे रो पड़ती हैं, इसे कोसती हैं। इसे कलंकी समझकर कमल इसका मुख भी देखना नहीं चाहता। इसके उदित होते ही वह मुद जाता है, सिकुड़ कर नेत्र बंद कर लेता है। इसके बिना प्राचीदिशि विधवा के सदृश हो जाती है, उसका मुख काला पड़ जाता है। जिस स्त्री का पति समीप न हो, उसका मुख भला कैसे खिलेगा। मुख तो अनुराग से खिलता है। अनुराग वहीं प्रकट होता है जहाँ चार आँखें होती हैं।

गोपिकाओं को तो इस चन्द्रमा से वैर था। इसके कई कारण हैं, दिन में तो वे कभी पनघट पर, कभी गोशाला में, कभी गौओं को लाते ले जाते, कभी दधि बेचने जाते समय

श्याम को देख भी लेतीं। जहाँ निशा हुई, जहाँ निशानाथ ने अपने हाथ फैलाये, तहाँ मानों गोपियों को कारावास हो गया। रात्रि में स्त्री बाहर कैसे निकल सकती हैं। आँगन में बैठी-बैठी वे रोती रहती थीं। ऊपर आकाश की ओर देखतीं तो वहाँ हँसता हुआ चन्द्रमा दिखाई देता। उन्हें ऐसा लगता मानों यह हमारे ही ऊपर हँस रहा है। फिर श्रीकृष्ण के मुख की आभा भी चन्द्रमा से मिलती-जुलती ही है। समान वस्तु को देखकर अपने प्रिय की स्मृति जाग उठती है। रूप में ही साम्य हो सो बात नहीं। नाम में भी साम्य है। श्रीकृष्णचन्द्र, व्रजचन्द्र तथा वृन्दावनचन्द्र इन सभी नामों में चन्द्र लगा है। चन्द्रमा को देखते ही श्यामसुन्दर की स्मृति और भी अधिक जागृत हो उठती है। श्रीकृष्ण का जो पीतांबर है वह चन्द्रकिरणों के सदृश चमकीला है। जिस आकाश में चन्द्रमा विचरता है, उसके रङ्ग से घनश्याम के श्रीअंग का रङ्ग मिलता जुलता है। ये सभी स्मृतियाँ उन्हें रात्रि भर सोने नहीं देतीं थीं। यह कलंकी चन्द्रमा आकाश से टले, तो हमें नींद भी आवे। चन्द्रमा इन गालियों को सहते-सहते नित्य-नित्य मलिन होता जाता था। अन्त में –अमावस्या के दिन–छिप जाता। फिर इस आशा से द्वितीया के दिन प्रकट होता कि गोपिकायें अब मेरा आदर करेंगी। द्वितीया के चन्द्र को देखकर वे नमस्कार करतीं। तब उसका साहस बढ़ता। इनका रोष कम हो गया है। वह बढ़ता ही जाता। गोपियाँ मन ही मन खीजतीं। पूर्ण हो जाता, तो फिर रोतीं, झींकतीं, गालियाँ देतीं, बेचारे का मुख म्लान हो जाता, उत्साह भंग हो जाता, फिर शनैः-शनैः प्रभाहीन–तेजहीन बनता जाता।

शरद पूर्णिमा के दिन उसने अपना समस्त साहस ... और दृढ़ निश्चय किया, आज मैं समस्त जीवों के ...

जनित ताप को दूर करूँगा। आज चराचर विश्व को अपनी कमनीय किरणों द्वारा आह्लादित करूँगा। यह सोचकर प्रथम उदित होते ही उन्होंने प्राची दिशा के मुख को सिंदूरिया रङ्ग से रङ्ग दिया।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! बेचारी प्राची दिशा ने ऐसा कौन-सा पाप कर दिया, कि चन्द्रमा ने उदय होते ही अपनी शुभ्रकिरणों से प्राची दिशा के मुख को रक्तरञ्जित-सा बना दिया?"

यह सुनकर सूतजी हँस पड़े और बोले—"महाराज! आप बाबाजी ठहरे, ऐसे सरस प्रश्न आप क्यों कर देते हैं। या तो आप सर्वदा भोले हैं इसलिये ऐसे प्रश्न कर देते हैं। या आप जान बूझकर प्रसंग को सरस बनाने को ऐसे रहस्यमय चुभते प्रश्नों को उठा देते हैं। अंतिम बात ही हो सकती है। बात यह है भगवन्! किसी अत्यन्त प्यारी पत्नीका पति परदेश चला गया था। जाते समय वह एक अवधि दे गया था कि उस दिन मैं आ जाऊँगा। वह बेचारी भोली भाली थी। उसने उतनी ही लकीरें खींच रखीं थीं। नित उठकर एक लकीर को मिटा देती। जिस दिन सब मिट गयीं उस दिन उसकी उत्सुकता अत्यधिक बढ़ गयी। क्षणभर में भीतर जाती फिर बाहर आती। पति को भी वैसी ही उत्कण्ठा थी। वे समय पर आ ही गये। हृदय फूट पड़ा। प्रेम का स्रोत उमड़ पड़ा, नेत्र अपने आप बहने लगे। वह पैरों पर पड़कर रोने लगी। मुख विरह ताप से संतप्त हो रहा था। हृदय धड़क रहा था। पति का सुखद शीतल स्पर्श प्राप्त हो तो चिरकाल का सन्ताप दूर हो। पत्नी ने पति के पूजन के लिये कटोरा भरके कुंकुम रख रखा था। किन्तु पति को पाकर वह सब सुध-बुध भूल गयी। पति ने वह चंदन, कपूर मिश्रित केशर की गाढ़ी-गाढ़ी कीच अपने करों से लेकर उसके

मुखारविन्द पर मल दो। एक तो पति के कर का सुखद स्पर्श दूसरे केशर कपूर चंदन की शीतलता उसका सभी सन्ताप दूर हो गया। वह निहाल हो गयी। प्रणयभरी दृष्टि से वह प्राणनाथ के मुखचन्द्र को निहारती ही रह गयी। इसी प्रकार प्राची दिशि के सन्ताप को हरने के ही निमित्त पूर्ण चन्द्र ने अपनी प्रशान्त किरणों के द्वारा नभ को लालिमा से उसके मुख को रञ्जित कर दिया। सीधी सादी भाषा में है कि पूर्व दिशा की लालिमा को फाड़कर चन्द्र उदित हुए। आज वे खिल खिलाकर हँस रहे थे। समस्त प्राणियों को सुखकर प्रतीत हो रहे थे। आज वे सभी को प्यारे लग रहे थे।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! चन्द्रमा हँस क्यों रहे थे?"

यह सुनकर सूतजी हँस पड़े और बोले—"महाराज! इस बात को तो चन्द्रमा ही जान सकते हैं वे क्यों हँसे, हम लोग तो अनुमान ही लगा सकते हैं। चन्द्रमा ने सोचा होगा—ये गोपिकायें मुझे सदा गालियाँ ही दिया करती हैं, आज मेरी चाँदनी में अपने चितचोर को पाकर ये अवश्य ही मुझे आशीर्वाद देंगी, इसी प्रसन्नता में वे हँस पड़े होंगे अथवा आज समस्त प्रकृति को सजी-बजी नववधू के समान लज्जा से घूँघट मारे देखकर उसकी शोभा पर वे विमुग्ध हो गये होंगे। अथवा कुमुदिनियों को हँसती देखकर वे हँस पड़े होंगे, अथवा चिन्मय वृन्दावन की रासस्थली की अपूर्व शोभा देखकर हँस पड़े होंगे। अथवा आज रासेश्वर की परम रहस्यमयी लीला देखने का मुझे सौभाग्य प्राप्त होगा। उस लीला में मैं आलोक प्रदान कर्ता-मसाल दिखाने वाला बनूँगा इस प्रसन्नता में हँसे होंगे, अथवा श्रीकृष्ण के आज अद्भुत जग मोहन शृङ्गार को देखकर हँसे होंगे। कुछ भी हो, उनका यह हास्य आन्तरिक प्रसन्नता द्योतक था।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब शरद्पूर्णिमा के पूर्णचन्द्र

अपनी समस्त कलाओं के साथ कुमुदिनियों को विकसित करते हुए, निशारानी की बगल में गुलगुली करके उसे हँसाते हुए, अपनी शान्त किरणों से सभी को सुखी बनाते हुए, शरद् कालीन स्वच्छ नभ में उदित हुए, तब श्रीकृष्ण ने गोपियों के साथ रमण करने की इच्छा की।"

छप्पय

नभकूँ झारि बुहारि रँग्यो नीलम तैं मानों।
मोती दये बिखेर खिले तारागन जानों॥
श्रीमुखमण्डल सरिस सुखद शोभायुत निशिपति।
रक्ताञ्चल तैं निकसि करत जगकूँ प्रमुदित अति॥
प्राचीदिशि कुंकुम रँगी, वर उडुगनपति शुभ्र अति।
मनहुँ प्रिया परिधान मुख, झाँपि हँसत, प्रिय प्रानपति॥

आह्वान

[६६१]

दृष्ट्वा कुमुद्वन्तमखण्डमण्डलम्
रमाननाभं नवकुङ्कुमारुणम् ।
वनं च तत्कोमलगोभिरञ्जितम्
जगौ कलं वामदृशां मनोहरम् ॥*
(श्रीभा० १० स्क० २९ अ० ३ श्लोक)

छप्पय

हृदय भरत अनुराग चलत शशि सबकूँ हेरत ।
मनहुँ किरन कर कमल राग चहुँ ओर बिखेरत ॥
फेंकी कोमल किरन भयो वृन्दावन रञ्जित ।
जपाकुसुमकूँ पाइ फटिकमनि जन अति हरषित ॥
वृन्दावन अति मनहरन, आये गोपीजनरमण ।
नटनागर सजि बजि तुरत, रास करन यमुनापुलिन ॥

जैसे तिलों के अणु-अणु में तेल व्याप्त है, जैसे दुग्ध में घृत, पुष्प में गन्ध, गन्नों में रस और ईंधन में अग्नि सर्वत्र व्याप्त है,

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! नभ में नवकुंकुम के समान अरुण वर्ण तथा लक्ष्मीजी के मुख के सदृश शोभायमान अखड मण्डलाकार निशा नाथ को तथा उनकी कोमल किरणों से रञ्जित वृन्दावन को देखकर श्यामसुन्दर ने ब्रजरमणियों के मन को हरने वाला मधुरगान आरम्भ किया ।"

उसी प्रकार विश्व ब्रह्मांड में मोहन की मुरली का मधुरस्वर व्याप्त है। जैसे ये सब वस्तुएँ युक्ति से, श्रम से प्राप्त की जाती हैं, वैसे ही बनवारी की बाँसुरी का शब्द भी प्रेम उत्कण्ठा और प्रतीक्षा के द्वारा सुना जाता है। स्वाति का जल सर्वत्र समान बरसता है, किन्तु उससे अधिक सुख तो पपीहा को ही होता है। मोहन की मुरली अबाधित रूप से बजती रहती है, किन्तु उसे सुनती तो युवती गोपिकायें ही हैं। दूसरे अनेक व्यवसायों में फँसे रहने से उसे सुन नहीं सकते। कुछ सुनकर भी अनसुनी कर देते हैं, किन्तु अनुरागवती गोपियों को तो वह ध्वनि उन्मत्त बना देती है। वैसे वंशी तो नित्य ही बजती है, किन्तु प्रतीक्षा के पश्चात्–उत्कण्ठा के अनन्तर–निश्चित समय पर जो बजती है, वही उन्मादिकारिणी होती है। आँख कान बन्द करके जो चिरकाल तक अनहद शब्द श्रवण करने का अभ्यास करते हैं, उन शब्दब्रह्म के उपासकों को मुरली की मधुर ध्वनि अवश्य ही सुनाई देती है, स्पष्ट सुनाई देती है। उन्हें मुरली ही नहीं रास के समस्त वाद्य सुनाई देते हैं।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जिन रात्रियों की प्रतीक्षा में गोपिकायें व्यग्र थीं, श्रीकृष्ण भी छटपटा रहे थे, व्याकुल हो रहे थे, दिन गिन रहे थे, वे शरद की सुन्दर रात्रियाँ आ गयीं।

शरद के चन्द्रमा को नवकुंकुम के सदृश अखण्ड मंडलाकार देखकर तथा उनकी कमनीय कोमल किरणों से वृन्दावन के तरुओं, लताओं, पताओं, कुंजों, निकुंजों को रञ्जित देखकर नन्दनन्दन का हृदय बाँसों उछलने लगा। प्राची दिशि की लालिमा के झीने अञ्चल से शशि को झाँकते देखकर श्यामसुन्दर के हृदय में अपनी प्यारी सहचरी कमला के मुख की स्मृति जागृति हो उठी। उस स्मृति ने अनन्त सुख चन्दों के चलचित्र सम्मुख उपस्थित कर दिये। व्रजवल्लभ अधीर हो उठे,

उन्होंने रास के योग्य वेष बनाया। पचरंगा जामा पहिनकर उस पर पीले रंग का पटुका कसा। एक पीताम्बर कण्ठ में डाला। पाग के ऊपर मोरमुकुट पहिना और उसके ऊपर चटकना चीरा बाँधा। इस प्रकार सज बजकर हाथ में मुरली लेकर वे संकेत स्थान की ओर चले। प्रकृति देवी ने सम्पूर्ण शृंगार किया था। अभिसारिका के समान वह सजी-धजी प्यारे की प्रतीक्षा में खड़ी थी। वृन्दावन की वनश्री भी आज प्रसन्नता से फूल रही थी, उसका भी शरीर रोमांचित हो रहा था, वृन्दावन के तरुओं पर निवास करने वाले पशु-पक्षी आज सोये नहीं थे, किन्तु उन्होंने कलरव करना बन्द कर दिया था। वन्य पशु भी स्तब्ध हुए अपने-अपने बिलों में चुपचाप बैठे थे। आज सभी शान्त चित्त से हँस रहे थे। भूमिदेवी ने अपनी विषमता त्याग दी थी, वह सीधी और सम हो गयी थी। पवनदेव ने स्वयं आकर झाड़ू लगा दी थी, एक भी कंकड़ी वहाँ नहीं रह गयी थी। शारदीय हिमकणों ने आकर वहाँ छिड़काव कर दिया था। प्रकृति देवी ने शाद्वल का हरा सुन्दर गुदगुदा विस्तृत गलीचा बिछा दिया। आकाश ने रासस्थली पर नील रंग का वितान तान दिया। चन्द्र हाथ में आलोक लेकर खड़े हो गये। पवन चँवर लेकर खड़े हो गये। जब रंगस्थली की सम्पूर्ण सजावट हो गयी। जब लीला के समस्त संभार समुपस्थित हो गये, तब सर्वप्रथम श्यामसुन्दर ने एकाकी ही प्रवेश किया।

इतनी विस्तृत रंगभूमि उसमें अकेले ठंठनपाल मदनगुपाल शोभित न हुए। अकेले—केवल अद्वैत—वहाँ बैठे-बैठे क्या करते। तब उन्हें नादब्रह्म प्रवाहिनी रसवर्षावनी अपनी बाँसुरी की स्मृति आयी। स्मृति आते ही उन्होंने उसका आदर किया। नाभि के समीप जो फेंट में खुरसी हुई थी, उसे हृदय, कण्ठ और ओठों से लगाया। चूमकर उसे प्यार किया।

शैया पर उसे सुलाया। अत्यन्त कोमल गुदगुदे रसीले रँगीले अधरों के उप वर्हण (तकिये) लगाकर उसे सुखपूर्वक सुलाया, पुनः श्यामसुन्दर अपनी मुखकमल की दिव्य गन्धयुक्त फूँक उसके मुख में भरने लगे। मानों उसे प्रणय का पाठ पढ़ाने लगे। स्वयं जिस काम को करने में असमर्थ थे उसे मुरली द्वारा करवाने लगे। जब किसी से कोई काम कराना होता है, तो उसका अत्यधिक आदर किया जाता है, उसके प्रति आवश्यकता से अधिक आत्मीयता बरती जाती है। इसीलिये श्यामसुन्दर ने उस काठ की पोली सूखी बाँसुरी का इतना अधिक स्वागत सत्कार किया।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! वह मुरली क्या थी, विषभरी पिटारी थी, उन्माद प्रवाहिनी सरिता थी, विश्व को अपनी ओर आकर्षित करने वाली अचूक ओषधि की पुड़िया थी। जिनके कर्णों में भी इसकी ध्वनि पड़ गयी, वे सब कुछ भूल गयीं। अपनी तान रूपी सुधामधुरिमा को वर्षाकर वह सभी के संतप्त हृदयों को शीतल करने वाली थी। ध्यान धारणा में निमग्न योगिजनों के ध्यान को भी बलात् अपनी ओर आकर्षित करने वाली उसकी स्वर लहरियाँ थीं, एक से अनेक बनने की अभिलाषा से, रास विलास सुखास्वादन की इच्छा से, कंदर्प के दर्प को दलन करने की कामना से श्यामसुन्दर ने उसके मुख में फूँक मारी। प्रिय के मुख में फूँक मारने में एक अनिर्वचनीय सुख होता है।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! भगवान् ने कन्दर्प के दर्प को दलन करने का विचार क्यों किया? इन्द्र ने तो सांवर्तक मेघों की वर्षा करने की आज्ञा देकर धृष्टता की थी। इसलिये दामोदर ने उसके दर्प को दूर किया। कामदेव ने ऐसी कौन-सी धृष्टता की थी, जिसके लिये भगवान् ने यह सब लीला की?"

इस पर सूतजी बोले—"महाराज! बात यह थी, कि इस काम को ब्रह्माजी ने उत्पन्न किया। उत्पन्न होते ही इसने ब्रह्माजी को भी अपने वश में कर लिया। वे भी इस काम के अधीन हो गये। इसने ऋषि, मुनि, देवता, यक्ष, गन्धर्व, मनुष्य तथा पशु, पक्षी, कीट-पतङ्ग सभी को अपने अधीन कर लिया। बड़े-बड़े वीतरागी त्यागी तपस्वी भी इससे पार न पा सके। वे और सभी बन्धनों से मुक्त होकर तो वन को चले जाते, किन्तु इससे वे भी हार मान जाते। शंकरजी को भी इसने बड़ा नाच नचाया। बाल ब्रह्मचारी नारद बाबा को भी चक्कर में फँसाया। शिवजी ने इसके पुत्र क्रोध की सहायता से इसे भस्म कर दिया। किन्तु जब इसकी बहू बहुत रोई पीटी तो भोले बाबा ही ठहरे। दया के वशीभूत हो गये। कह दिया—"तेरा पति अनङ्ग होकर भी सबके हृदय में व्याप्त रहेगा और सभी के मन को मथता रहेगा।" उसी दिन से इसका नाम अनंग और मन्मथ हो गया। अब इसका बल और भी बढ़ गया। पहिले तो शरीर वाला था। आता हुआ दिखाई देता था। अब तो इसका सूक्ष्म शरीर है। कब मन में घुस आता है, पता नहीं चलता। पता तब चलता है जब मन खो जाता है। बड़े से बड़े योगियों को इसने चारों कोने चित्त करके पछाड़ दिया। इससे युद्ध करके आज तक कोई जीता नहीं। एक बद्री नारायण निवासी 'नारायण' मुनि को छोड़कर।

इस कामदेव ने देखा श्रीकृष्ण का तो बड़ा भारी प्रभाव है, मैंने अपने बाप ब्रह्मा को भी अपने अधीन कर लिया है, वे ब्रह्मा जी भी इन श्रीकृष्ण की सूत मागधबन्दियों की भाँति स्तुति करते हैं, इन श्रीकृष्ण को भी जीतना चाहिये।" यही सोचकर वह अपने ईख के दंड और फूलों के बाणों को लेकर सज-बजकर

एकांत में श्रीकृष्ण के समीप आया। भगवान् को न प्रणाम किया न नमस्कार, सामने खड़ा हो गया।

भगवान ने पूछा—"कौन है रे तू ?"

अनंग बोला—"मेरा नाम काम है।"

भगवान् ने कहा—"अरे, सारे ! काम है तो क्या किसी के ऊपर चढ़ेगा ? हट, एक ओर। मेरे सामने लठ्ठ-सा क्यों खड़ा है ?"

काम ने कहा—"महाराज ! मैं आपसे लड़ूँगा।"

भगवान् ने कहा—"तू अपना काम देख, बिना बात मुझसे क्यों उलझना चाहता है। इतना बड़ा संसार पड़ा है, चाहे जिससे युद्ध कर।"

उसने कहा—"महाराज ! मैंने सम्पूर्ण संसार को तो जीत लिया। बस, आप ही शेष रहे हैं।"

भगवान् ने कहा—"अच्छा, यह बता तू कैसे लड़ता है ?"

काम ने कहा—"मेरा एक मन्त्री है संकल्प। पहिले मैं स्त्री पुरुष दोनों के मन में उसे प्रवेश करा देता हूँ। जहाँ मन में उसने प्रवेश किया, कि मैं तुरन्त जाकर स्त्री पुरुषों के मन को मथ देता हूँ। उस समय कैसी भी प्रतिज्ञा करो, कितना भी रोओ झींको सब व्यर्थ हो जाता है। यदि उस समय पुरुष को स्त्री और स्त्री को पुरुष मिल जाय तो मैं प्रकट होकर दोनों को पराजित कर देता हूँ। इसी रीति से सबको मैंने पराजित कर दिया है।"

भगवान् बोले—"अच्छी बात है, हम तेरी चुनौती को स्वीकार करते हैं। एक नहीं हम सहस्रों स्त्रियों के साथ रमण करेंगे। आना तू अपनी पूरी सेना लेकर। हम भी अपनी समस्त सेना के साथ आवेंगे और खुलकर, विस्तृत रणक्षेत्र में हमारा तेरा युद्ध होगा। यदि तैंने हमें जीत लिया, तब तो हम तेरे अधीन

हो ही जायँगे, यदि मैंने तुम्हे जीत लिया, तो सारे तुम्हे बेटा बना-कर छोड़ूँगा।"

उसने कहा—"अच्छी बात है, शरद की पूर्णिमा के दिन हमारा आपका युद्ध होगा। आप भी अपनी रमणियों के साथ वृन्दावन यमुना पुलिन पर रहना। मैं भी मलयानिल, बसन्त, रति तथा संगीत आदि के सहित उपस्थित हूँगा।" यह कहकर कामदेव चला गया।

आज शरदपूर्णिमा ही थी, दोनों ही सज बजकर युद्ध के लिये आये। रङ्गस्थली प्रकृति ने स्वयं सजायी थी। श्यामसुन्दर ललित त्रिभंग गति से कदम्ब के नीचे वंशी लेकर खड़े हो गये। उन्होंने उसमें फूँक मारी। मारते ही गये, मारते ही गये, उसे अपनी त्रिभुवन मोहनी फूँक से भरते ही गये भरते ही गये। वह रव विश्वमोहन होकर व्रज सुन्दरियों के मन को हरने वाला नाद बनकर-व्रजमण्डल में बिखर गया। उन गोपांगनाओं के कर्ण कुहरों में व्याप्त हो गया। जैसे मादक वस्तु पान करते समय तो कुछ प्रतीत होती नहीं, पान करने के अनन्तर उसका प्रभाव प्रतीत होता है, उसी प्रकार उन गोपिकाओं को वह विश्वमोहिनी वंशी का मधुर गान प्रथम तो बड़ा ही सुखद प्रतीत हुआ, किन्तु कुछ काल में वह उस शब्द को सुनते-सुनते आत्मविस्मृत सी बन गयीं। उनके मन में अतीत काल की अनन्तस्मृतियाँ जागृत हो उठीं। वे उस शब्द के स्रोत के समीप जाने को व्याकुल हो उठीं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! श्यामसुन्दर ने जिस संकल्प से मुरली बजायी थी, जिन्हें मोहित करने के संकल्प से वह मोहिनी मन्त्र फूँका था, वे सबकी सब व्रजांगनाएँ उस शब्द को सुनकर मोहित हो गयीं। मन्त्र ने अपना प्रभाव तत्क्षण दिखाया।"

छप्पय

हैं त्रिभंग मनहरन फेंटतें वेनु निकारी।
कर कमलनितें परसि प्रेमतें पौंछि सम्हारी॥
पुनि अधरनिपै धरी करी कछु तिरछी प्यारी।
दाबे उंगलिनि छिद्र फूँक पुनि मुखमहँ मारी॥
स्वरलहरी प्रकटित भई, विश्व निखिल रव भरि गयो।
मधुर गान काननि परथो, युवतिनि चित चञ्चल भयो॥

कृष्णान्तिक अभिगमन

[६६२]

निशम्य गीत तदनङ्गवर्धनम्
व्रजस्त्रियः कृष्णगृहीतमानसाः ।
आजग्मुरन्योन्यमलक्षितोद्यमाः
स यत्र कान्तो जवलोलकुण्डलाः ॥*

(श्री भा० १० स्क० २६ अ० ४ श्लो०)

छप्पय

मनमोहन महँ प्रथम चित्त आसक्त सबनिको ।
करत प्रतीक्षा परयो श्रवन रव वंशी धुनिको ॥
ज्यों जलनिधितैं मिलन जाहि द्रुतगतितैं सरिता ।
अकबकाइ सब चलीं श्याम ढिँग त्यों व्रजवनिता ॥
तन, मन, घर, परिवार की, सुरति त्यागि सब चलि दई ।
काम काज बिसरे सकल, मन्त्रमुग्ध-सी बनि गईं ॥

प्रेम में पग-पग पर गोपन होता है । प्रेम का गोपन असत्य नहीं । प्रेम में भावगोपन तो एक स्वाभाविक प्राचीन परिपाटी

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! जिनका चित्त श्रीकृष्ण में आसक्त हो रहा है ऐसी गोपिकाएँ उस कामोद्दीपक वेणुगीत को सुनते ही, एक दूसरी से अपनी चेष्टा को छिपाती हुईं अपने प्यारे के निकट आयीं । अत्यन्त वेग के कारण चलते समय उनके कानों के कमनीय कुण्डल झोटा खा रहे थे ।"

है। जैसे ऊँट पर चढ़ा हुआ आदमी बार बार मटकता है, तो वहाँ वह बनता नहीं। ऊँट पर जो चढ़ेगा वही मटकेगा। भाव गोपन से प्रेम का स्वाद और बढ़ता है। कोई हमारे भाव को न जानने पावे। यद्यपि प्रेम और कस्तूरी छिपाये से छिपते नहीं, फिर भी लोग इन्हें यत्नपूर्वक छिपाने की ही चेष्टा करते हैं। इससे उनका महत्व बढ़ता ही है, घटता नहीं। दूसरे चाहे कोई न भी समझें, किन्तु जो एक ही पथ के पथिक हैं, वे तो समझ ही जाते हैं। उनसे भी छिपाव करना पड़ता है। सर्प के सदृश कैसी इस प्रेम की कुटिल गति है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! श्रीकृष्ण की अति मधुर वंशी की ध्वनि को सुनकर व्रज की वे गूजरी सूतरी में बँधी कबूतरी की भाँति खिंची हुई भगवान् के समीप चल दीं। क्यों चल दीं जो? चल इसलिये दीं, कि कृष्ण ने उनका सर्वस्व हरण कर लिया था। 'कृष्ण तो वन में बैठे थे वहाँ बैठे-ही-बैठे उन्होंने सर्वस्व कैसे हर लिया जी?' अजी, महाराज! राजा लड़ने थोड़े ही जाता है, लड़ने तो उसके सैनिक ही जाते हैं। सैनिक जिस देश को जीत लेते हैं वह राजा का ही जीता हुआ देश कहलाता है। इसी प्रकार चोर डाकुओं के सरदार अपने अन्य चोरों को लूटने भेजते हैं। लूटकर वे सब धन अपने अधिनायक को लाकर देते हैं। इसी प्रकार श्रीकृष्ण महाचोर हैं, चोरों के शिखा-मणि हैं। उन्होंने चोरी में चतुर वंशी की ध्वनि को व्रजांगनाओं के समीप भेजा। संयोग की बात कि उन गोपिकाओं के कर्ण-कपाट उस काल खुले पड़े थे, वे अभी सोई नहीं थीं। चुपके से वंशी धुनि उनके कानों के द्वार से मनमन्दिर में प्रवेश कर गयी। वहाँ सबसे गुप्त पिटारी में धृति, स्मृति, विवेक, लोक-लाज, भांति और मति ये बहुमूल्य रत्न रखे हुए थे। सबसे प्रथम तो उसने उन रत्नों को उनके मनमन्दिर से हर लिया और लेकर

भागकर उन सबको श्रीकृष्ण के समीप पहुँचा दिया। "घर में धन था। स्त्रियों के बहुमूल्य आभूषण थे, ये सब वस्तुयें वेणु-नाद ने क्यों नहीं चुराईं जी ?" अजी, जब चोर को बहुमूल्य वस्तुएँ मिल जाती हैं, तो अल्पमूल्य की वस्तुओं से वह हाथ नहीं लगाता। जब उसे सुवर्ण रत्न मिल गये, तो घास फूँस को बाँधकर व्यर्थ में बोझा क्यों बढ़ावेगा। जब मनमन्दिर में छिपे रत्न मिल गये, तो सोने, चाँदी, के आभूषण में क्या रखा है। यही सोचकर उसने हाथ नहीं लगाया।

गोपिकायें सो तो रही नहीं थीं। सेंद मारकर किसी ने चोरी तो की नहीं। यह तो डाका था। आँखों के सामने सर्वस्व लूटकर चोर भागा था। चोर भी दश-बीस नहीं थे। अकेला चोर था, उनका साहस बढ़ा वे उसके पीछे भागीं। वे जानती थीं, इसको भेजने वाला कोई महाचोर यमुना तट पर अकेला बैठा है। यह चोर हमारा सर्वस्व हर कर उसे ही देगा। हम उससे प्रार्थना करेंगी, तो सम्भव है, वह हमारे रत्नों को लौटा दे। यही सब सोचकर उस चोर के पदों का अनुसरण करती हुईं वे उसी ओर भागीं। जाते समय व्यग्रता में उनके कानों के कुण्डल हिल रहे थे। वे एक दूसरी को बता भी न सकीं, जो जहाँ बैठी थीं वहीं से ज्यों-की-त्यों उठकर चल दीं। एक तो व्यग्रता से जाने का भाव यह हो सकता है।

कुछ लोगों का कहना है, चोरी की बात नहीं थी। वेणु ने प्रलय करने का विचार कर लिया। कहावत है, जो अपने वंश का नहीं होता वह किसी का भी नहीं होता। वंशी जिन बाँसों से उत्पन्न हुई है, वे बाँस परस्पर रगड़कर अपने वंश को ही जलाकर भस्म कर देते हैं। वंश परम्परागत कुछ गुण तो वंशी में आने ही चाहिये। इसीलिये श्याम के मुख की वायु से प्रज्वलित होकर यह अग्नि गोपिकाओं के कानों द्वारा उनके हृदय में

पहुँची। वायु से ही तो अग्नि उत्पन्न होती है। उस अग्नि ने गोपिकाओं के हृदयों को दग्ध करना आरम्भ कर दिया। वे व्याकुल बन गयीं। अग्नि के जले को घन ही शान्त कर सकता है, अतः शान्ति की अभिलाषा से वे घनश्याम के समीप दौड़ीं।

किसी का कहना है। यह कामदेव बड़ा क्रूर है। इसकी क्रूरता से ही क्रोधित होकर कैलाशवासी कपर्दी ने इसे जला दिया। पत्नी के प्रयत्न से यह पापी पुनः जीवित हो उठा। शिव जी का तो यह कुछ बिगाड़ ही नहीं सकता था। किन्तु जिन जीव रूप पशुओं के वे पति हैं, उन पशुपति की प्रजा हम पुरुष स्त्रियों के हृदय में प्रवेश करके इसने उन्हें जलाने का निश्चय किया। यह कामदेव भी अनंग है और वेणु का जो शब्द है उसके भी अंग नहीं। दोनों की साँठ-गाँठ हो गयी। इस काम ने व्रज युवतियों के हृदय में चुपके-से प्रवेश किया। अब तक वह ऐसे छिपा जैसे मांस के भीतर फोड़ा रहता है। जब वह सूजकर ऊपर उठ जाता है, तब उसमें असह्य पीड़ा होती है। गुप्त चिनगारी रूप में जब अनंग हृदय में छिप गया, तब वेणुनाद रूपी वायु ने आकर उसे प्रदीप्त कर दिया। गोपियों का हृदय जलने लगा। स्त्रियों के हृदय में कामाग्नि प्रज्वलित हो जाय, तो उसे पुरुष ही शान्त करने में समर्थ है। पुरुष एकमात्र श्रीकृष्ण ही हैं। जीव जितने हैं वे प्रकृति होने से स्त्री लिंगवाची हैं, इसलिये जीवों के हृद्रोग को श्रीकृष्ण ही शान्त कर सकते हैं। वे मन्मथ के भी मन को मथन करने वाले हैं। कोटि कंदर्पों के दर्प को भी दलन करने वाले हैं। इसी आशा से कामाग्नि से व्याकुल होकर गोपिकायें श्रीकृष्ण की ओर दौड़ीं। उन्होंने एक दूसरी को अपने मन का अभिप्राय बताया नहीं।

"जब उनमें परस्पर इतना प्रेम था, फिर एक दूसरी ने अपने मन की बात अपनी सखी सहेलियों को बतायी क्यों नहीं जी?"

अब इस बात को हम क्या जानें। उनके मन की बात को वे जानें सकती हैं या मदनमोहन जान सकते हैं। अपने लोग तो अपनी अल्पमति से अनुमान ही लगा सकते हैं। एक तो यह कारण हो सकता है, कि मोहन की मुरली की धुनि ने उनके चित्त को ऐसा व्याकुल बना दिया था, कि वे किसी को जताना बताना भूल हो गयीं। जो जैसी बैठी थी, वह तैसी की तैसी ही उस ध्वनि का अनुसरण करती हुई उसी ओर दौड़ पड़ी अथवा प्रेम में यह होता है, प्रथम मैं ही अपने प्रियतम का प्रेमप्रसाद प्राप्त कर सकूँ, इस उत्कण्ठा से किसी को बिना बताये, सर्वप्रथम समीप पहुँचने के संकल्प से सब चल दीं। अथवा चलने में उनका चित्त इतना तन्मय हो गया, कि उन्हें इतनी सामर्थ्य ही न रही कि किसी को बता सकें। प्रेम में वाणी रुद्ध हो गयी पैरों की गति रुक गयी। पैर बिना प्रयत्न के अपने आप उसी ओर चल दिये। वे प्रयत्न करने पर भी इधर-उधर मुड़ने को सहमत न हुए। यन्त्र की भाँति उधर ही अव्याहत गति से दौड़ पड़े। कुछ भी क्यों न हो, वे सबकी सब उस कामोद्दीपक वेणुनाद को सुनकर श्रीकृष्ण की ओर चल दीं। चलते समय उनके कानों के कुण्डल हिल रहे थे झोंटा खा रहे थे। "कुण्डल हिल क्यों रहे थे जी ?" वाह जी ! बड़ा विचित्र प्रश्न किया। चलने से कुण्डल हिलेंगे नहीं। वेग से चलो तो कानों के कुण्डल अपने आप हिलेंगे। फिर इसके कहने का प्रयोजन क्या ?" प्रयोजन यह कि श्रीकृष्ण के मिलने की व्यग्रता उन चैतन्यमयी गोपियों की ही नहीं थी, कानों में पड़े जड़ कुण्डल भी उनसे मिलने को व्यग्र थे, लालायित थे, अधीर थे, उत्सुक थे। वे गोपिकाओं के कानों में हिल हिलकर कह रहे थे। 'देखो' तुम तो सुकुमारी हो। तुम्हारा कटिप्रदेश स्थूल है। वक्षःस्थल पर भी दो भार विद्यमान हैं। उदर कृश है इससे तुम शीघ्र चलने में लच जाती हो। नितम्बों के भार से

एड़ियाँ यमुनाजी की बालू में धँस जाती हैं, अतः तुम शीघ्रता से दौड़ नहीं सकतीं। हाँप जाती हो, मुख पर स्वेद बिन्दु झलकने लगते हैं। उन्हें पोंछने में समय लगा देती हो। इसलिये तुम तो न जाने कब पहुँचोगी। हमें अपने कानों में से छोड़ दो। हम दौड़कर श्रीकृष्ण के समीप शीघ्र पहुँच जायँ। उनके चरणों में जाकर लोट जायँ।" किन्तु गोपिकायें तो आत्मविस्मृत बनी हुई थीं, उनका ध्यान तो कुण्डलों की ओर था ही नहीं। वे उनकी बात सुनती ही नहीं थीं। कुण्डल क्रुद्ध हो रहे थे और बार-बार हिल-हिलकर अपनी व्यग्रता प्रकट कर रहे थे। इससे प्रतीत होता है जड़ चेतन सभी श्रीकृष्ण से मिलने को अधीर हैं, व्यग्र हैं, किन्तु उन्हें विशुद्ध पन्था नहीं मिलती। वे कँटीले मार्ग की ओर चल पड़ते हैं, उसमें जाने से वे न तो आगे बढ़ सकते हैं न श्रीकृष्ण के समीप ही पहुँच सकते हैं। एक काँटा लगा, उसे निकालने में कुछ समय लगा, काँटा निकालने से कुछ सुख हुआ, तब तक दूसरा काँटा गड़ गया। उनका समस्त समय काँटे निकालने में ही बीतता है। इस आशा से वे एक के पश्चात् दूसरे काँटे को निकालते हैं कि अब सुख मिलेगा, अब सुख मिलेगा किन्तु सुख मिलता नहीं। दुःख निवृत्ति का सतत प्रयत्न करते हैं, किन्तु आत्यन्तिक दुःख की निवृत्ति होती नहीं। यदि कुण्डलों की भाँति किसी भावमयी गोपी के चरण चिन्हों का अनुसरण करके उस ओर बढ़े, तो अवश्य ही श्रीकृष्ण के समीप पहुँच सकता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार भगवान् की मुरली-ध्वनि को सुनकर अत्यन्त व्यग्रता के साथ घर में सभी कामकाज छोड़कर गोपिकायें शरद की रात्रि के समय वन में श्रीकृष्ण के समीप चलीं।"

छप्पय

दूध दुह्यो को दुह्यो गाय के नीचे पटक्यो।
रही पालनो खोलि तज्यो ज्यों को त्यों लटक्यो॥
दही मथत ही छोड़ि चलीं माखन न निकार्यो।
छोड़ चूल्हि पै दूध चलीं नीचे न उतार्यो॥
पति भोजन तजि चली इक, प्रेम चटपटी हियलगी।
हलुआ घोटति रही इक, छोड़ि कढ़ाई महँ भगी॥

गमनौत्सुक्य

[६६३]

दुहन्त्योऽभिययुः काश्चिद्दोहं हित्वा समुत्सुकाः।
पयोऽधिश्रित्य संयावमनुद्वास्यापरा ययुः ॥*

(श्री भा० १० स्क० २९ अ० ५ श्लो०)

छप्पय

कछुक अङ्क बैठाइ पूतकूँ दूध पियावैं।
कछुक प्रानपति हेतु फूल की सेज बिछावैं॥
कछु भोजन करवाइ सबनिके बासन माँजें।
कछु उबटन करि न्हाइ नेत्रमहँ अंजन आँजें॥
कछु कुंकुम चन्दन घिसति, कछु तन माहिँ लगावतीं।
कछुक केश काढ़ति रहीं, कछु बेंदी चिपकावतीं॥

कोई हमसे किसी के लिये कहता है, तो हम पर सीधा सादा उत्तर है 'हमें समय नहीं है, किन्हीं के पत्र पर पत्र आते हैं, हम उत्तर नहीं देते। जब वह बहुत विवश करता है, तो हम दो शब्द लिख देते हैं। 'दुःख है समयाभाव से उत्तर न दे सका,

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! कोई गोपी तो दूध दुह रहीं थीं, वे अत्यन्त उत्सुकता वश दूध दुहना छोड़कर चल दी। कोई-कोई उबलते हुए दूध को छोड़कर चल दीं और कोई अधबने मोहनभोग को चूल्हे पर ही छोड़कर चल दीं।"

क्षमा करें।" अब आप सोचें समयाभाव का अर्थ क्या ? क्या आप कागद लेखनी लेकर लिखते नहीं ? हाँ लिखते हैं, दिन भर लिखते हैं, तो फिर एक छोटी-सी पत्री लिखने को तुम्हें समय क्यों नहीं ? इसलिये कि उसका उत्तर देना हम आवश्यक नहीं समझते। किसी से कुछ प्राप्ति का डौल डाल हो तो सब काम छोड़कर हम उसे प्रेमपूर्वक पत्र लिखेंगे। संसार में प्रेम ही आवश्यक वस्तु है, जिसमें भी हमारा अधिक प्रेम होगा, उसके लिये हम सब कुछ छोड़ देंगे। जिन्हें कीर्ति से प्रेम है, वे कीर्ति के लिये प्राणों का भी बलिदान दे देते हैं। व्यापारी व्यापार के लिये सब कामों को छोड़ देता है। यदि कोई अपने ऊपर राज-अभियोग हो तो उसे अत्यावश्यक समझकर व्यापार की हानि को भी स्वीकार कर लेते हैं। यदि अपने प्राणों से प्यारी पत्नी को, अत्यन्त प्यारे पुत्र को कोई असाध्य रोग हो रहा है, तो धन की ममता नहीं की जाती। इसलिये कि उससे हमें अत्यन्त अनुराग है। घरवाली स्त्रियों को घर के कामों में अत्यन्त अनुराग होता है, किन्तु कोई अत्यन्त प्यारी सहेली आ जाती है, तो उनको भी वे छोड़ देती हैं। प्रेम में नेम रहता ही नहीं। संसारी वस्तुओं में, संसारी लोगों में प्रेम तभी तक होता है, जब तक श्रीकृष्ण में प्रेम नहीं होता। जहाँ श्रीकृष्ण प्रेम की तनिक-सी भी झाँकी दिखाई दे गयी, तहाँ ये सभी सम्बन्ध फीके-फीके दिखाई देंगे। फिर ये विष के समान, शरीर से पृथक् हुए मलमूत्र के समान, वमन किये हुए अन्न के समान, फोड़े में से निकले हुए मवाद के समान, कटे हुए नख, केश और दाँतों के समान, कंठ से निकले श्लेष्मा के समान, तथा कान से निकले मैल के समान घृणास्पद और त्याज्य दिखाई देंगे। फिर कोई कितना भी आग्रह करे, कितना भी प्रलोभन दे, उनमें उसकी आसक्ति न होगी।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अपने गृह कार्यों में लगी हुयीं

गोपियों ने शरद रात्रि की पूर्णिमा के दिन सहसा मुरली की मधुर ध्वनि सुनी, सुनते ही वे प्रेम में विह्वल हो गयीं। इतने दिनों से जिस समय की प्रतीक्षा कर रही थीं, वह समय सन्निकट आ गया है। श्रीकृष्ण हमें आह्वान कर रहे हैं। क्रीड़ा के लिये पुकार रहे हैं। अहा! आज चिर प्रतीक्षा के अनन्तर प्रिय मिलन का अनुपम सुख प्राप्त होगा। इसकी स्मृति मात्रा से ही उनके रोमाञ्च हो उठे। वे समस्त सुधि बुधि भूल गयीं। जिस काम को कर रहीं थीं। वह ज्यों का त्यों ही रह गया। बहुत-सी गौशाला में गौओं को दुहने को उद्यत थीं। उन्होंने बछड़ों को छोड़ दिया था, गोएँ पुहना गयी थीं। बछड़े को बाँधकर दूध दुहने ही वाली थीं, कि उसी समय मुरली की धुनि सुनाई दी। तुरन्त बछड़े को बिना बाँधे ही वहीं दुहनी छोड़कर चल दी। बहुत-सी आधा दूध दुह चुकी थीं, वे मुरली की तान सुनकर दुहनी और दूध को वही छोड़कर श्रीकृष्ण की ओर चल दीं। बहुतों ने दूध दुह लिया था, उन्होंने उसे वहीं छोड़ दिया। बहुत-सी घर ले जाकर बरोसी में कंडे सुलगाकर गरम करने रख रही थीं, वे बिना अँगीठी पर रखे ही वेणु गीत सुनकर चल दीं। बहुतों का दूध उफन रहा था, वे उसे उफनता हुआ ही छोड़कर चल दीं। बहुत सी मोहनभोग बना रही थीं शक्कर को गरम जल में घोलकर उसे छान लिया था, आटे को घी में भून रही थीं, उसी समय कानों में वंशी ध्वनि पड़ गयी। आटा चूल्हे का चूल्हे पर ही है, सीरा कोयलों पर रखा है, सबको जहाँ का तहाँ छोड़कर झटपट उस ध्वनि का अनुसरण करती हुईं उधर की ही ओर चल दीं। बहुत-सी घूँघट मारकर रोटी बनाती जाती थीं और गरम-गरम वहाँ से पतियों देवरों को थालियों में फेंकती जाती थीं। सब लोग रसोई जीम रहे थे, कि उन्मादकारिणी वंशी बज उठी सब गुड़ गोबर हो गया। वे कठौती की लोई को कठौती में ही छोड़-

कर, तवे की रोटी को तवे पर और घई की रोटी को घई में ही जलती छोड़कर ज्यों की त्यों उठकर चल दीं।

कोई अपने आत्मजों को—छोटे-छोटे बालकों को—गोदी में लिटाकर अपने आंचल का दूध पिला रही थीं, कोई अपने छोटे-छोटे भाई, बहिन तथा भतीजे आदि को गौ के औटे दूध में मिश्री मिलाकर चमचे से उसे पिला रही थीं, उन्होंने ज्यों ही वंशी की ध्वनि सुनी तुरन्त सबको ज्यों का त्यों छोड़कर श्रीकृष्ण के समीप यमुना तट की ओर चल दीं। कोई-कोई शैया पर शयन करते हुए अपने स्वामी की श्रद्धा सहित सेवा कर रही थीं, उनके चरणों को दबा रही थीं, सिर में घृत तैल लगा रही थीं, वे भी मन्त्र मुग्ध-सी बनी ज्यों की त्यों घृत तैल लगे हुए हाथों से ही उठकर चल दीं।

कोई-कोई अपने सास, ससुर, देवर, जेठ, भृत्य नौकर-चाकर सबको भोजन कराके स्वयं पति की थाली में बैठकर प्रसाद पा रही थी, प्रसाद पाते-पाते ही उनके कर्ण कुहरों में बावरी बना देने वाली वंशी की मोहिनी तान ने प्रवेश किया। फिर क्या था, हाथ का ग्रास हाथ में ही रह गया। मुख का मुख में ही बना रहा। वे बिना उसे निगले, बिना कुल्ला आचमन किये जैसी की तैसी ही उठ धायीं और श्रीकृष्ण के समीप आयीं।

कोई उबटन लगा रही थीं। "रात्रि में उबटन लगाने का क्या काम जी ? उबटन लगाकर तो स्नान करना पड़ता है, रात्रि में स्नान करने से तो कष्ट होगा ?" अपने प्रियतम को रिझाने के लिये सब कुछ करना होता है। देह अपने लिये नहीं सजाई जाती है, इसे देखकर प्रेष्ठ प्रसन्न होगा, सुखी होगा यही भावना रहती है। उबटन लगाकर उष्ण जल से बन्द स्थान में स्नान करने से शरद ऋतु में सुख ही होता है। वे सायंकाल में

में उबटन लगाकर श्रृंगार करती थीं। स्नान करके अपने वक्षःस्थल पर तथा अन्य अंगों में केशर कस्तूरी युक्त सुगन्धित चन्दन का, अंगराग का लेप करती थीं। लेप के लिये कोई चन्दन घिस रही थीं, वे चन्दन को आधा ही घिसा छोड़कर चल दीं। कोई अंगराग लगा रही थीं, शरीर में केशर की कीच का लेप कर रही थीं। आधे अंग पर कर चुकी थीं आधे पर करना शेष था, वे उसे बीच में ही छोड़कर चल दीं। कोई शरीर को स्वच्छ करके वस्त्रों को पहिन रही थीं। मुरली की धुनि सुनते ही उनकी मति मारी गयी, वे बावरी-सी बन गयीं। ओढ़नी लँहगा की भाँति कमर में लपेट ली। लँहगा को ओढ़नी के स्थान में ओढ़ लिया। कंचुकी को कण्ठ में लटका लिया। कुच पट्टिका को उदर से ही बाँध लिया, इस प्रकार अस्तव्यस्त भाव से वे उन्मादिनी की भाँति भगवान् के समीप चलीं। कोई आभूषण पहिन रही थीं, उसने कहीं के कहीं आभूषण पहिन लिये। मुदरी को पैरों में पहिन लिया। बिछुओं को हाथ की उँगलियों में उरस लिया। कड़े छड़े पाइजेबों को हाथों में पहिन लिया। बंगली, बाजूबन्द, पहुँची और कंकणों को पैरों में पहिन लिया। कटि की कर्धनी को कण्ठ में डाल लिया हार को कर्धनी के स्थान में कटि में पहिन लिया। इस प्रकार कहीं के कहीं अस्त व्यस्त भाव से वे भावावेश में आभूषण पहिनकर निडर पागलों की भाँति उठ धाई।

कोई बेंदी लगा रही थीं, कोई आँखों में अञ्जन आँज रही थीं, कोई माँग में सिन्दूर भर रही थीं, कोई मुखपर पत्रावली की रचना कर रही थीं, कोई कुंकुम का तिलक दे रही थीं, कोई डिबिया में से निकालकर पान खा रही थीं, कोई दर्पण में मुख देखकर अपने मुख के मुहासों को ठीक कर रही थीं, कोई नखों को रँग रही थीं, कोई महावर लगा रही थीं, कोई मेंहदी लगा

रही थीं। कोई रोमों को विशुद्ध बना रही थीं, कोई दाँतों में मिस्सी लगा रही थीं, कोई दाँतों से चोंपों को निकालकर उसे रगड़-रगड़ कर चमकीली बना रही थीं। कोई मैली चूड़ियों को निकालकर चमकीली चूड़ियाँ पहिन रही थीं, सारांश यह कि घर गृहस्थी के सगे सम्बन्धियों के, अपने शरीर सजाने तथा पुष्ट करने के जितने भी काम होते हैं, उनमें से जो जिस काम में लगी थी, वह उस काम को वैसा ही अधूरा छोड़कर भगवान् की बाँसुरी की ध्वनि का अनुगमन करने लगी। सब कुछ छोड़-कर घर से निकल पड़ी।

उन सबको थकी-सी, जकी-सी, भूली-सी, भटकी-सी, पगली-सी, सिड़ी-सी, मन्त्रमुग्ध-सी बिना विचारे वन की ओर जाते देखकर उनके पतियों ने, पिताओं ने, भ्राताओं ने, बन्धु-बान्धवों स्वजनों तथा परिवार वालों ने बहुत रोका, बहुत मना किया, किन्तु उन्होंने किसी की एक नहीं सुनी। सबकी बातों को अनसुनी करके बिना कुछ उत्तर दिये चल ही तो दीं। उन्हें प्रयत्न करके भी कोई रोक न सका। मरते को और जाते को कौन रोक सकता है। जो प्राणों का पण लगाकर सर्वस्व का मोह त्यागकर जाने को तत्पर है, उसे बलपूर्वक बाँधकर कोई कब तक रख सकता है। जिसने प्राणों को हथेली पर रख लिया है, उसे फिर भय किसका हो सकता है। उनका चित्त तो चितचोर ने चुरा लिया था। जो सबका कर्षण करनेवाला है जो सबको बलात अपनी ओर खींचता है, वह कृष्ण जिसे वरण करना चाहे, वह जिसे अपनी ओर बुलाना चाहे, तो ऐसा कौन प्राणी होगा जो विवश होकर उनकी ओर खिंचा हुआ न चला जायगा। सबको विवश होकर उधर जाना ही होगा। गोपिकायें आत्मविस्मृत बनी उनकी ओर बढ़ रही थीं। वे रुकीं नहीं, लौटी नहीं, थकी नहीं, चलती ही गयीं, चलती ही गयीं और

चलते-चलते अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँच गयीं। श्रीकृष्ण के श्रीचरणों में समुपस्थित हुईं।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! वे सब एक साथ ही साथ जा रही थीं, किन्तु सभी यह समझती थीं कि मैं अकेली ही जा रही हूँ, मेरे भाव को दूसरी नहीं जानती। एक साथ जाते-जाते भी भावगोपन है। प्रेम की यह कैसी अद्भुत लीला है। बहुत-सी तो चली गयीं, कुछ न जा सकीं, उनकी क्या दशा हुई इसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

कछु पट पहिनति रहीं कछुक आभूषन धारति।
कछु दर्पनमहँ देखि माँग सिंदूर सम्हारति॥
जो जो कारज करति रहीं त्यागो सो तिनने।
चलीं वेनु सुनि, काज अधूरे छोड़े उनने॥
बरजीं पति पितु बन्धुने, रोकीं बहु परि नहिं रुकीं।
कहीं बहुत परि ते नहीं, लोकलाज सम्मुख झुकीं॥

—:—

तीव्र ताप का परिणाम

[६६४]

अन्तर्गृहगताः काश्चिद् गोप्योऽलब्धविनिर्गमाः।
कृष्णं तद्भावनायुक्ता दध्युर्मीलितलोचनाः ॥*

(श्री भा० १० स्क० २९ अ० ९ श्लो०)

छप्पय

कछुक रहीं घर माँहि गमन की करीं तयारी।
किन्तु चलि नहीं सकीं पिता पति बन्धु निवारी ॥
करिबे हठ जब लगीं दयो बाहरतैं तारो।
भीतर सोचें विवश—नाथ! वश नाहिं हमारो ॥
कृष्ण भावना महँ सकल, तब तन्मय ते है गईं।
नयन मूँदि मनहरन के, मग्न ध्यान महँ सब भईं ॥

शरीर परवश है, प्रारब्ध वश है। वह अभिभावकों के अधीन है, किन्तु मन तो अपना है। मन जहाँ फँस जाता है, वहाँ, से उसका निकलना कठिन हो जाता है। ऊपर से वेष किसी का मन से ध्यान किसी का यह तो कुछ अनुचित-सा है, किन्तु करें क्या, कोई बलवान् बलपूर्वक मन को चुरा ले, उससे किसका वश चलता है। जिसकी लाठी उसकी भैंस।

---

* श्रीशुकदेवजी कहते है—"राजन्! कुछ गोपिकायें घरों के भीतर थी, वे बाहर न जा सकी। अतः वे वहीं श्रीकृष्ण को भावना मे युक्त होकर नेत्रों को बन्द करके उनके ध्यान मे तन्मय हो गई।"

श्रीवृन्दावन के चीर घाट पर एक त्रिपुण्ड लगाये रुद्राक्ष की माला पहिने 'नमःशिवाय' छापे का दुपट्टा ओढ़े कोई शैव श्रीमद् भागवत का पाठ कर रहे थे। उस समय कोई भावुक भक्त स्नान के लिये आये। श्रीकृष्ण के ध्यान मग्न वे शैव भक्त बड़े स्वर के साथ पाठ कर रहे थे, श्रीकृष्ण की लीलाओं को पढ़ते समय उन-के रोमाञ्च हो रहे थे, नेत्रों से झर-झर आँसू बह रहे थे। यह देखकर वे भावुक वैष्णव चिल्ला उठे—"चलियो चलियो रे, चोरी हो गयी। चोरी हो गयी।" स्नान करने वाले दस-बीस भक्त और भी एकत्रित हो गये। वे पूछने लगे—"भाई! क्या चोरी हो गई? किसने तुम्हारा क्या धन चुरा लिया?"

तब वैष्णव बोले— 'श्रीमद्भागवतं पुराणं तिलकं यद् वैष्णवानां धनम्" श्रीमद्भागवत तो वैष्णवों का धन है, इसे यह शैव चुरा रहा है, इसका बड़े प्रेम से रसास्वादन कर रहा है। देखने में तो यह शैव ही मालूम पड़ता है।"

यह सुनकर वे शैव भक्त गद्गद हो उठे और बोले— "बन्धुवर! वास्तव में मैं शैव हूँ, इसमें शंका करने का कोई स्थान ही नहीं। मैं रुद्राक्ष को धारण करता हूँ, त्रिपुण्ड लगाता हूँ, मैंने शिव मंत्र की दीक्षा ली है। पञ्चाक्षरी मंत्र का जप भी करता हूँ। इतना सब होने पर भी किसी गोप के साँवरे-से सुन्दर-से छोरा ने मेरे चित्त को चुरा लिया है। यहाँ वस्त्र चुराये जाते हैं, दूध माखन चुराया जाता है, पाप चुराये जाते हैं तथा मन भी चुराया जाता है। जब किसी महाचोर ने मेरे मन को चुरा लिया है, तो फिर मैं वैष्णवों के धन की चोरी क्यों न करूँ? वेष से मैं शैव हूँ किन्तु मन पर तो मेरा अधिकार ही नहीं रहा, उसे तो मदन मोहन ने चुरा लिया है।" कहने का सारांश यह है, कि जब मन कहीं और फँस जाता है और शरीर कहीं किसी दूसरे स्थान पर बन्दी हो जाता है और विरह की अग्नि प्रबल हो जाती है, तब

इस शरीर के बन्धन को छोड़ना ही पड़ता है। स्थूल शरीर को छोड़कर सूक्ष्म शरीर से अपने प्यारे के समीप जाने को विवश होना पड़ता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! सब गोपिकायें घर,द्वार,कुटुम्ब, परिवार की समस्त मोह ममता को छोड़कर श्रीकृष्ण की ओर चल दीं। वे घरवालों के रोकने पर भी नहीं रुकीं, किन्तु कुछ ऐसी भी थीं जो घर के भीतर थीं। वे घर के भीतर तन से तो गृहस्थी के काम कर रही थीं, किन्तु मन मदनमोहन की माधुरी में मतवाला हो रहा था। मन से वे मदनमोहन का ही निरन्तर चिन्तन कर रही थीं। सहसा उनके कर्णकुहरों में मुरली की मधुर तान सुनाई दी। वे समस्त कामों को छोड़कर चलने को उद्यत हुईं।

जो पिता के घर में थीं उनके माता पिता ने, भाई बन्धु ने पूछा—"कहाँ जा रही हो?"

जो ससुराल में थीं उनकी सास ने, ननद ने, पति ने पूछा—"कहाँ की तैयारियाँ हैं?"

उन सबका एक ही उत्तर था। हम इस मुरली-ध्वनि के उद्गमस्थान को खोजने चली हैं। उनके अविभावक कहते—"तुम्हारी मति तो नहीं मारी गयी है। अच्छा, तुम मुरली के उद्गमस्थान को खोज ही लोगी, तो तुम्हें क्या मिल जायगा। मृगतृष्णा के अनुभव करने को जेठ वैशाख की दोपहरी में मरुभूमि की बालू में भटकती फिरो और मृगतृष्णा को देख लो, तो उससे लाभ ही क्या?"

अब वे इसका उत्तर क्या देतीं? जिसका मन जिसमें रम जाय, उसको वही सब कुछ है। विष का कीड़ा विष को ही खाने में सुख मानता है। चकोर को अग्नि खाने में ही सुख है। सुख तो मन की वस्तु है। मन ने जिसको मान लिया वही सुख है।

मन तो श्यामसुन्दर में रम गया है, हमारे नेत्र तो निरन्तर उनके दर्शनों को लालायित रहते हैं। वे विमुख इस बात को क्या जानें, हम तो उनके समीप जायँगी, अवश्य जायँगी, किसी के रोके न रुकेंगी। उन्होंने अभिभावकों के प्रश्न के उत्तर में दृढ़ता के स्वर में इतना ही कहा—"कुछ भी क्यों न हो सब जा रही हैं, हम भी जायँगी। अवश्य जायँगी। हम रह नहीं सकतीं।"

जो जिस पर अपना अधिकार समझता है, उसके अपने विरुद्ध उत्तर को सहना नहीं चाहता। वह सदा यही आशा रखता है, मेरा आश्रित मेरे संकेत पर चले, मेरी इच्छा के विरुद्ध आचरण न करे, मेरी आज्ञा का उल्लङ्घन न करे। आज अपनी बहू बेटियों के ऐसे अधिकार पूर्ण उत्तर को सुनकर वे क्रुद्ध हुए। उनके मन में ईर्ष्या का संचार हुआ। हम इनसे बड़े हैं, संरक्षक हैं, भरण पोषण करने वाले हैं, हमारे सामने ये ऐसा विरुद्ध आचरण करती हैं, और धृष्टता से उत्तर देती हैं। उन्हें क्रोध आ गया। क्रोध में भरकर वे बोले—"तुम जा कैसे सकती हो। सब जाती हैं, जायँ, सब निर्लज्ज हो गयीं हैं, किन्तु हम तुम्हें निर्लज्ज न होने देंगे। बलपूर्वक तुम्हें जाने से रोकेंगे। देखें, तुम कैसे जाती हो। यह कहकर उन्होंने घरों की किवाड़ें लगा दीं, उनमें ताला ठोक दिया। वे घर के भीतर अवरुद्ध हो गयीं। उनका पाँच-भौतिक शरीर एक घर की दीवारों में सीमित हो गया।

इस पर उन्हें मर्मान्तिक दुःख हुआ। हाय! आज ही तो प्रियतम के मिलन का दिवस था। आज ही संयोग सुख का आस्वादन करतीं, आज ही यह विघ्न! फिर सोचा—"शरीर का मिलना तो तुच्छ है। मन से मिले रहना ही सुख है। घर वालों ने हमारे शरीर को ही तो घर में बन्द कर रखा है। मन पर तो मनमोहन का ही अधिकार है। क्यों न हम मन से ही जाकर उनसे मिलें।" यह सोचकर उन्होंने अपनी उत्कट भावना को भक्तमय

हारी भगवान् नन्दनन्दन के चरणारविन्दों में लगाया। भावना की तीव्रता से वे तन्मय हो गयीं। वे बाह्य प्रपञ्च को सर्वथा भूल गयीं। संसार की ओर से उन्होंने आँखें बन्द कर लीं। अब उनके सामने एक श्रीकृष्ण ही श्रीकृष्ण अवशेष थे। वे उनके ध्यान में मग्न हो गयीं। उनका चित्त एकाग्र हो गया। उन्हें भावसमाधि लग गयी। "क्यों जी, भाव समाधि तो शुभ और अशुभ जब दोनों प्रकार के कर्मों का नाश हो जाता है, उस समय लगती है। उनके शुभ या अशुभ कर्म कुछ तो होंगे, कुछ पाप न हों, तो शरीर की प्राप्ति ही न हो। शरीर तो शुभ अशुभों के सम्मिश्रण का ही फल है ?"

कुछ भोग शेष रहते हैं। भोगों के समाप्त होते ही शरीर भी समाप्त हो जाता है।

यद्यपि उन गोपियों की जिन्हें उनके घर वालों ने रोक रखा था, उनकी नन्दनन्दन में भगवद्‌बुद्धि नहीं थी। भगवद्‌बुद्धि होती, तब तो उन्हें रोकने की किसी की सामर्थ्य ही न थी, वे साधन सिद्धा गोपियाँ थीं। साधन करते-करते इस जन्म में श्रीकृष्ण के दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। फिर भी उनके शरीर में कुछ प्राकृत अंश अवशिष्ट था। प्राकृत शरीर से तो श्री कृष्ण मिलते नहीं। वे तो दिव्यवपु हैं, साधक को दिव्य बना लेते हैं, तब मिलते हैं। सहस्रों जन्मों के पुण्य प्रभाव से–शुभ कर्मों के अनुष्ठान से–इन्हें श्रीकृष्ण के देव दुर्लभ दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। किन्तु पुण्य पापों के प्रभाव से उन्हें श्रीकृष्ण के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान न था। मिश्री का ज्ञान न भी हो और संयोग से उसका जिह्वा से संस्पर्श हो जाय, तो वह मीठी तो लगेगी ही। इसी प्रकार ये साक्षात् परब्रह्म परमात्मा हैं, यह ज्ञान उन्हें न रहा हो, तो भी श्रीकृष्ण परात्पर प्रभु तो हैं ही। वे उनके सौंदर्य माधुर्य पर लट्टू थीं। यद्यपि उनके लौकिक पति थे, उनके अधीन उन्होंने शरीर तो कर दिया था, किन्तु मन को मनमोहन के हाथों बिना मूल्य बेच दिया था। उन्हें ही अपना सच्चा पति मान लिया था। लोक दृष्टि से उसे जारभाव कहते हैं। अपने पति के रहते दूसरे पुरुष से प्रेम करना यही जारभाव है। लोक दृष्टि से उनका श्रीकृष्ण में जारभाव ही थी, किन्तु परमात्मा श्रीकृष्ण का संग होने से उनके समस्त शुभ अशुभ कर्म बन्धन टूट गये। बन्धनों के टूटते ही उन्होंने अपना यह पंचभौतिक त्रिगुणमय शरीर त्याग दिया। वे दिव्य देह से परात्पर प्रभु श्रीनन्दनन्दन से जाकर मिल गयीं।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह सुनकर विष्णुरात महाराज

परीक्षित् को एक बड़ी शंका हुई। उन्होंने मेरे गुरुदेव भगवान् शुक से हाथ जोड़कर पूछा—"प्रभो! ये व्रजांगनायें तो श्यामसुन्दर मदनमोहन नन्दनन्दन को परम श्रेष्ठ कान्त ही मानती थीं। उनका चित्त तो उनके सौन्दर्य माधुर्य के ही कारण आकृष्ट था। उनका उनमें ब्रह्मभाव तो था नहीं। बिना ब्रह्मभाव के सुदृढ़ हुए यह संसार बन्धन छूटता नहीं। उनको बुद्धि में तो संयोग सुख की कामना थी, वे श्रीकृष्ण का पतिभाव से आलिंगन करना चाहती थीं, अर्थात् उनके मन में कामभाव तो था ही। फिर गुणमयी बुद्धि से युक्त होने पर भी उनका यह गुण प्रवाहरूप संसार कैसे छूट गया? वे किस प्रकार कर्म बन्धनों से मुक्त हो गयीं? उन्हें सुरदुर्लभ परमपद की प्राप्ति कामभाव रहने पर भी कैसे हुई?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! मेरे गुरुदेव बड़े उल्लास के साथ तन्मय होकर रासलीला का वर्णन कर रहे थे, राजा के इस शुष्क प्रश्न से उनका प्रवाह रुक गया, वे प्रसन्न नहीं हुए। कोई वक्ता धाराप्रवाह से तन्मय होकर किसी विषय को समझा रहे हों और बीच में कुतर्क करके उसे कोई टोक देता है, तो उसकी भाव शृङ्खला टूट जाती है। वह उस प्रश्न का उत्तर तो देता ही है, किन्तु फिर उसके कथन में उतनी तन्मयता नहीं रहती। इस प्रकार भगवान् शुक का भी (जो धाराप्रवाह रूप में व्याख्यान कर रहे थे) धारा रुक गयी। उन्होंने जिस प्रकार राजा की शंका का समाधान किया, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय—*कृष्णविरह अति दुसह वेदना भई तीव्र जब।*
सकल अशुभ मिटि गये भावमहँ मग्न भईं सब॥
भावालिङ्गन करत मिटे शुभ बन्धन टूटे।
त्रिगुण देह तजि दई जगत् के बन्धन छूटे॥
दिव्य देहतें तुरतई, कृष्ण संग संगम कर्यो।
भयहारी भगवान् ने, भवबन्धन तिनिको हर्यो॥

श्रीकृष्ण में कामभाव भी कल्याणप्रद है

[६६४]

उक्तं पुरस्तादेतत्ते चैद्यः सिद्धिं यथा गतः।
द्विषन्नपि हृषीकेशं किमुताधोक्षजप्रियाः॥ *

(श्रीभा० १० स्क० २९ अ० १३ श्लो०)

छप्पय

कहें परीक्षित्—प्रभो! कान्त ते मानत हरिकूँ।
ब्रह्मभाव नहिं भयो मिली क्यों शुभगति तिनिकूँ॥
रुपटि कहें शुक—भूप! भूलि का बात गये तुम।
मई मुक्ति शिशुपाल बताई बात प्रथम हम॥
बैरभाव करि तरि गयो, करयो कृष्ण महँ प्रेम नहिं।
सदा बसत हिय श्यामघन, ते गोपी क्यों नहिं तरहिं॥

पात्र और अनुपान के कारण फल भी भिन्न हो जाता है। स्वाति की बूँद हाथी के मस्तक पर पड़ने से गजमुक्ता के रूप में हो जाती है और नदी में पड़ने से पीने योग्य पानी और यदि वही समुद्र में पड़ जाय तो अपेय खारा जल बन जाती है। यह तो

---

* श्री महाराज परीक्षित् की शङ्का करने पर श्रीशुकदेवजी बोले—"राजन्! मैंने तुमसे पहिले कह तो दिया, भगवान् को चेदिराज शिशुपाल द्वेष बुद्धि से चिन्तन करता था, उसी से उसे सिद्धि प्राप्त हो गई। फिर जो व्रजाङ्गनायें व्रजबिहारी को अत्यन्त प्रिय थीं, उनके सम्बन्ध में तो कहना ही क्या है।"

पात्र भेद से फल हुआ। इसी प्रकार अनुपान और युक्ति से भी परिणाम भिन्न होता है, यद्यपि विष का धर्म मारना है, किन्तु जङ्गम विष जिसके शरीर में हो, उसे स्थावर विष युक्ति के साथ दिया जाता है। वह जङ्गम विष के प्रभाव को नष्ट करके जीवन प्रदान करता है। विष का काम है मारना, किन्तु वही पात्र विशेष में प्रयोग होने पर अमृत का काम कर जाता है। ओषधि को जानकर खाओ अनजान में खाओ वह गुण करेगी ही। जिस रोगी को जिस की ओषधि की आवश्यकता है, संयोग से उसे वह वैसे ही मिल जाय और अनजान में वह उसे खा ले तो क्या वह रोग का नाश न करेगी। अवश्य करेगी। इस विषय में एक यथार्थ घटना है।

एक बड़े नामी वैद्य थे। उनके समीप एक निर्धन असाध्य रोगी गया। वैद्यजी ने उसके रोग का निदान करके पूछा—"भाई तुम्हारा रोग असाध्य है।"

उसने दीनता के साथ कहा—"वैद्यजी! आप सब रोगों की चिकित्सा करते हैं, बड़े-बड़े रोगों को अच्छा करते हैं, मेरे रोग की आप पर कोई ओषधि ही नहीं।"

वैद्यजी ने कहा—"भाई! ओषधि है क्यों नहीं। काल को छोड़कर शेष सभी रोगों की ओषधि हैं। किन्तु तुम्हारी ओषधि बनाने में देर लगेगी। सर्प को मारकर उसके फण के ऊपर ऊख उगानी पड़ेगी। उसके सेवन से तुम अच्छे होगे। इसमें छै महीने लगेंगे और तुम छै महीने किसी भी प्रकार नहीं जी सकते। अतः विवशता है। भगवान् को स्मरण करो। हरि स्मृति ही सब रोगों की अचूक दवा है।"

इतने बड़े वैद्य ने कह दिया, अब उसे विश्वास हो गया कि मैं बचूँगा नहीं। वह जीवन से निराश होकर अपने गाँव ओर चल दिया। गङ्गाजी के कछार का देश था। वहाँ ऊख

होती है। मार्ग में उसे भूख प्रतीत हुई। एक ऊख का खेत खड़ा था। उसमें से उसने एक बड़ा-सा मोटा-सा गन्ना उखाड़ा और वहीं बैठकर उसने सबको चूस लिया। चूसने के अनन्तर वह दो चार शौच गया। शौच के मार्ग से उसका सब रोग निकल गया शरीर स्वस्थ और निरोग हो गया। लौटकर वह पुनः वैद्यजी के पास गया और बोला—"वैद्यजी! अब मेरी नाड़ी देखिये।" वैद्यजी ने पुनः उसके शरीर की परीक्षा की और बोले—"तुम तो स्वस्थ हो गये। क्या खाया था तुमने ?"

उसने कहा—"महाराज! मैंने कुछ नहीं खाया, एक खेत से ऊख का गन्ना उखाड़कर खाया था।"

वैद्यजी ने कहा—"चलो, हमें दिखाओ।" वह वैद्यजी को साथ लेकर गया, स्थान दिखाया, वैद्यजी ने उसे खुदवाया तो वहाँ एक मरा हुआ काला सर्प निकला उसके फण पर ही यह ऊख का पेड़ उपजा हुआ था। वैद्यजी ने कहा—"तुम्हारे किसी पूर्वजन्म के पुण्यों से भगवान् ने स्वयं ही तुम्हारे लिये औषधि भेज दी।"

अब सोचिये। इस रोगी ने जानकर तो वह ऊख खायी नहीं थी, उसने तो भूखवश उसे खाया था। साधारण गन्ना होता, तो उससे और हानि ही होती, वह सर्प के फण पर उगा था, उससे उसका रोग दूर हो गया। किसी अन्य के सौन्दर्य पर आसक्त होकर गोपिकायें उससे प्यार करतीं, तो उन्हें पाप ही लगता। यदि वे दैवयोग से बिना जाने भी श्रीकृष्ण के सौन्दर्य पर रीझ गयीं, तो क्या उनका संसार बन्धन रह सकता है ?

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब मेरे गुरु भगवान् शुक धारा प्रवाह से रासपञ्चाध्यायी की कथा कह रहे थे, उसी बीच में "भगवान् में बिना ब्रह्मभाव किये गोपियों का गुण प्रवाह रूप संसार कैसे निवृत्त हो गया ?" यह शुष्क प्रश्न राजा ने कर दिया, तो श्रीशुकदेवजी उन्हें झिड़कते हुए बोले—"राजन्! मैं इस

विषय को तुम्हें पहिले बता तो चुका हूँ, फिर तुम इस विषय में बार-बार शंका क्यों करते हो ?"

राजा ने दीनता के स्वर में हाथ जोड़कर कहा—"प्रभो ! मैं अल्पमति हूँ, भूल गया था, आपने किस प्रसंग में गोपियों के इस भाव के विषय में बताया था, मुझे स्मरण नहीं रहा।"

श्रीशुकदेवजी ने कहा—"गोपियों का नाम लेकर तो मैंने नहीं बताया, किन्तु प्रह्लाद का चरित्र आरम्भ करते समय देवर्षि नारद और धर्मराज के सम्वाद के आरम्भ में शिशुपाल की मुक्ति की बात बतायी थी। शिशुपाल चेदि देश का राजा भगवान् की बूआ का लड़का था। उसका भगवान् में ब्रह्मभाव तो था नहीं, वह तो उन्हें अपना प्रतिस्पर्धी शत्रु ही समझता था और निरन्तर उन्हें गाली ही दिया करता था। जन्म से लेकर अन्त तक वह भगवान् को बुरा-भला कहता रहा, द्वेष भाव से ही उसका चिन्तन करता रहा। किसी अन्य साधारण आदमी से द्वेष करता तो उसे नरक में जाना पड़ता, किन्तु संयोग की बात जिनसे वह द्वेष करता था, वे परब्रह्म परमात्मा थे। बिना जाने भी अमृत को पी जाय, तो अमर तो हो ही जायगा। इसी प्रकार भगवान् का द्वेपभाव से भी चिन्तन करने से उसे परमपद की प्राप्ति हुई।"

महाराज परीक्षित् ने कहा—"महाराज ! ये गोपिकायें तो भगवान् से द्वेष नहीं करती थीं।"

हँसकर शुकदेवजी बोले—"अरे, भाई ! द्वेष से शिशुपाल तर गया, तो भगवान् से प्रेम करने से गोपिकायें न तरेंगी ? गोपिकायें ही भगवान् से प्रेम करती हों, सो बात नहीं। वे भगवान् नन्दनन्दन को भी अत्यन्त प्रिय थीं, गोपीजनबल्लभ वृन्दावन विहारी भी उनसे प्यार करते थे। अब बताइये, जो भगवान् को प्राणों से अधिक प्यार करें और भगवान् भी जिनसे मिलने को छटपटाते रहें, उनकी संसार निवृत्ति में कोई संदेह हो सकता है ?

राजा ने पूछा—"भगवन्! मुक्ति तो, निर्गुण ब्रह्म के ज्ञान से होती है। ये गोपिकायें तो सगुण साकार श्रीकृष्ण से प्रेम करती थीं?"

इस पर श्रीशुक बोले—"राजन्! जो लोग मूर्ख हैं, वे ही सगुण निर्गुण के विषय को लेकर व्यर्थ की वितण्डा बातें करते रहते हैं। वास्तव में जो भगवान अव्यय, अप्रमेय, निर्गुण हैं वे गुणों के अधिष्ठान भी हैं। जीवों के कल्याण के ही निमित्त उनका सगुण रूप से अवतार होता है। सगुण निर्गुण में कोई भेद नहीं, अन्तर नहीं। उन सर्वेश्वर से कैसे भी कोई सम्बन्ध कर ले। किसी भाव से भी सम्बन्ध रखने से उनका संसार बन्धन छिन्न भिन्न हो जाता है।"

राजा ने पूछा—"भगवन्! जब तक मन में कामवासना है, क्रोध है, लोभ है, तब तक भगवान् की कैसे प्राप्ति होगी?"

दृढ़ता के स्वर में श्रीशुक ने कहा—"कोई बात नहीं। काम भाव है तो उसे बना रहने दे। काम में यही होता है न कि स्त्री सुन्दर पुरुष को चाहती है, पुरुष सुन्दर स्त्री को। उस काम भाव को भगवान् में लगा दे, भगवान् से बढ़कर, सुन्दर पुरुष कौन होगा, जिन्हें देखकर पशु पक्षी भी मोहित हो जाते थे, उन्हीं में पतिभाव रखकर उनका निरन्तर चिन्तन करे। उनसे बढ़कर कोई सुन्दरी स्त्री भी नहीं। उनके 'मोहिनी' रूप को देखकर कामारि कपर्दी भी मोहित हो गये। इसलिये कामभाव रखना हो तो भगवान् में रखे, उन्हीं का निरन्तर कामभाव से चिन्तन करे। गोपिकायें इसी भाव से तर गयीं।

यदि अपने भीतर क्रोध हो, तो इन अल्प वीर्य वाले मनुष्यों से क्या क्रोध करे, सर्वसमर्थ सर्वेश्वर से क्रोध करे अपने क्रोध को उनमें लगावे। हिरण्यकशिपु भगवान् के प्रति क्रोध करके ही तर गया। इसी प्रकार भय हो, तो भगवान् से भय करे। कंस

वे निरन्तर भगवान् से ही भयभीत रहता था। भय के कारण उसे रात्रि में निद्रा भी नहीं आती थी, उन्हीं का मन से चिन्तन करता था। भगवान् को जो जिस भाव से भजता है वैसा ही रूप बनाकर उसकी मनोकामना को वे पूर्ण करते हैं। कंस काल रूप से उनका चिन्तन करता था। भगवान् ने काल बनकर उसे मार दिया। गोपिकायें पति भाव से निरन्तर भजती रहती थीं, जिस रूप से वे भजती थीं उसी रूप से उनके साथ रमण करके उन्होंने उनकी इच्छा पूर्ति की। प्रह्लाद नारद भक्तिभाव से प्रेमपूर्वक उनका चिंतन करते थे, उनको भगवान् ने प्रेम से कृतार्थ किया। कुछ ऋषि मुनि ब्रह्मभाव से 'मैं ही ब्रह्म हूँ' इस रूप से उनका चिन्तन करते हैं, तो भगवान् उन्हें उसी भाव से भजते हैं। ऐक्य रूप में ही अपनाते हैं। पांडव आदि उन्हें सुहृद सम्बन्धी मानकर भजते थे, भगवान् ने उन्हें उसी भाव से कृतार्थ किया। सारांश यह कि भगवान् में जो जैसा भाव रखते हैं, वे उसी भाव से तन्मयता को प्राप्त हो जाते हैं, भगवान् सर्वसमर्थ हैं।"

महाराज परीक्षित् ने कहा—"भगवन्! मुझे शंका यह रही कि जब तक मन में काम क्रोधादि शत्रु हैं, तब तक संसार बन्धन छूट कैसे सकता है?"

श्रीशुकदेवजी ने कहा—"अरे, फिर वही बात। अरे भाई! जब ये काम क्रोध भगवान् में लग गये, तो शत्रु रहे कहाँ? एक युवक है, उसे युवती लड़कियों की ओर देखना पाप है, उन्हीं लड़कियों में उसकी भावी बहू भी है, उसकी ओर भी देखना वह पाप समझता है। जब उसका उसके साथ पाणिग्रहण हो गया, तब वह त्याज्य कहाँ रही। जब काम क्रोध भगवान् में लग गये, तो भगवान् सब स्वयं सम्हाल लेते हैं। भगवान् के विषय में तो शंका करनी ही न चाहिये। वे कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुं सर्व समर्थ हैं। वे योगेश्वरों के भी ईश्वर हैं, अजन्मा हैं, सबको अपनी ओर

आकर्षित करने वाले हैं। वे चाहें तो आज सम्पूर्ण जगत् को—कीट पतंग कंकण पत्थर सबको—मुक्त कर दें। फिर उनके लिये जार बुद्धि से चिन्तन करने वाली गोपियों के संसार बन्धन को नाश कर देना यह कौन-सी बड़ी बात है।"

हाथ जोड़कर महाराज परीक्षित् ने कहा—"प्रभो! मेरी शंका का समाधान हो गया, कृपा करके अब आगे के प्रसंग को कहें।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! राजा परीक्षित् के इस प्रश्न से मेरे गुरुदेव के कथन की प्रणाली अब कुछ बदल गयी। वे इस विषय को सुस्पष्ट न कहकर कुछ रहस्यमय ढङ्ग से वर्णन करने लगे। जो गोपिकायें अपने-अपने घर के काम काजों को छोड़कर मुरली की धुनि सुनकर श्यामसुन्दर के समीप गयी थीं, वे उनके समीप पहुँच गयीं। उन्हें देखकर निष्ठुर श्रीकृष्ण ने जैसी कठोर-कठोर बातें कहीं, उनका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

काम, क्रोध, भय, लोभ, नेह, सौहार्द भावतें।
कैसे हू हरि भजो शुद्ध वा असद्भावतें॥
जे तन्मय ह्वै जायँ तरहिँ भवसागर ते नर।
जो चाहे सो करहिँ सिद्धिदाता वे नटवर॥
राजन्! हरि की दया तें, संशय सब मिटि जाइगी।
ककरी चाकू पै गिरै, ककरी ई कटि जाइगी॥

—०—

प्रेमाधिक्य का प्रस्ताव

[६६६]

ता दृष्ट्वान्तिकमायाता भगवान् व्रजयोषितः ।
अवदद् वदतां श्रेष्ठो वाचःपेशैर्विमोहयन् ॥*

(श्री भा० १० स्क० २९ अ० १७ श्लोक)

छप्पय

नृप बोले—गुरुदेव ! रही अब शङ्का नाहीं ।
हरिचरित्र सो कहें, गईं गोपी प्रभु पाहीं ॥
शुक बोले—व्रजबाल गईं व्रजवल्लभ ढिग जब ।
है ऊपरतें निठुर कपटतें बोले हरि तब ॥
आओ, बैठो, कुशल सब, करयो कष्ट किहि कामतें ।
राति अँधेरी, बन विकट, क्यों आईं निजधामतें ॥

जिनसे हम जिस व्यवहार की आशा नहीं रखते हैं, यदि वे हमसे वैसा व्यवहार करें, तो हमें मर्मान्तिक पीड़ा होती है। कोई बच्चा है सदा हम उसे तू कहकर पुकारते हैं, यदि उसे कभी हम "आप" कह दें तो वह समझेगा कुछ दाल में काला है। मुझसे कुछ अपराध बन गया है, वह 'आप' शब्द को सुनकर भयभीत हो जायगा। इसके विपरीत जिन्हें हम सदा सम्मान से

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! गोपिकाओं को अपने समीप आई देखकर वक्ताओं में श्रेष्ठ भगवान् नन्दनन्दन अपनी वाक् पटुता से उन्हें विमोहित करते हुए कहने लगे।"

'आप कहकर पुकारते हैं, यदि उन्हें कभी 'तुम' कह दें, तो इसमें वे अपना अपमान अनुभव करने लगेंगे।

जो सदा प्रेम पाने का अधिकारी है, उससे हम शुष्क बातें कहने लगें, तो यह उसके साथ अन्याय है, किन्तु प्रेम में प्रायः अन्याय कुछ बुरी भावना से नहीं होता। प्रेम को और बढ़ाने के लिये होता है। लड्डू खाने से मुँह भर जाय, मीठे से कुछ अनिच्छा हो जाय तो कड़वा दो मिरच खा लेते हैं, उसकी कटुता से मुख में दाह होने लगती है, आँखों में पानी भर आता है, शरीर में कंप हो जाता है, किन्तु फिर लड्डू खाने की उत्कट इच्छा हो जाती है। इसलिये बीच में मिरचा खा लेना अधिक लड्डू खाने के निमित्त होता है। प्रेम की कठोर भाषा में अनन्त प्यार छिपा रहता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! गोपिकायें अपना सर्वस्व छोड़कर श्रीकृष्ण के समीप आयीं। उन्हें आशा थी श्रीकृष्ण हमें देखते ही हृदय से चिपटा लेंगे, आत्मीयता का व्यवहार करेंगे, किन्तु उनकी आशा लता पर तुषाराघात हुआ। उनकी इच्छा पर पाला पड़ गया। श्रीकृष्ण ने उन्हें देखकर आत्मीयता का व्यवहार नहीं किया। उन्होंने एक अपरिचित व्यक्ति जैसे शिष्टाचार का बर्ताव करते हैं, उसी प्रकार का व्यवहार उनसे किया। खड़े तो वे थे ही। गोपियों को देखकर बड़ी मधुर वाणी में अपरिचित की भाँति बोले—"आइये, आइये! स्वागतम्-स्वागतम्" महाभागो! कहिये कैसे कष्ट किया? आप सबका मुझसे कुछ काम हो तो निवेदन कीजिये। आपकी जो आज्ञा होगी उसे करने को मैं सर्वदा तत्पर हूँ।"

इन बातों को सुनकर गोपिकायें तो हक्की-बक्की रह गयीं। श्रीकृष्ण हमारे साथ ऐसा शिष्टाचार का बर्ताव करेंगे, इसकी उन्हें स्वप्न में भी आशा नहीं थी। उन्होंने सोचा—"श्यामसुन्दर

हँसी कर रहे होंगे। इनका स्वभाव विनोदी है। अब कुछ प्यार की बातें करेंगे, किन्तु कृष्ण तो उन्हें निखारना चाहते थे, वे फिर बोले—"सुन्दरियो ! इस घोर रात्रि के समय बिना पुरुषों के तुम्हें यहाँ अकेली आते देख मुझे बड़ा आश्चर्य हो रहा है। व्रज में तो सब कुशल है न ? कोई भूत, प्रेत राक्षस तो नहीं आया। अथवा अग्नि, जल या चोर आदि का तो कोई भय उपस्थित नहीं हो गया। यदि ऐसी कोई बात हुई हो और मेरी सहायता की आवश्यकता हो, तो बताओ। यदि ऐसी कोई बात नहीं है, तुम वैसे ही चली आयी हो, तो इस वन में सिंह व्याघ्र तथा अन्यान्य हिंसक जन्तु इधर से उधर घूमते हैं, तुम्हारा यहाँ अधिक ठहरना उचित नहीं। तुरन्त अपने-अपने घर को लौट जाओ।"

'लौट जाओ' इस शब्द को सुनते ही सबकी सब सन्न हो गयीं। श्यामसुन्दर परिहास नहीं कर रहे हैं। अवश्य ही ये हमें ठुकरा रहे हैं। आज इन्हें हो क्या गया है। हाय ! कितनी सुंदर चुन-चुनकर ईंटें लगाकर तो हमने एक मनोहर आशा का महल बनाया था, उसे इन्होंने एक ही कठोर बात से ढहा दिया, गिरा दिया। हाय ! भोली-भाली आकृति में बधिक भी होते हैं। वे कुछ बोलीं नहीं। श्यामसुन्दर के कमल के सदृश विकसित प्रफुल्ल नेत्रों की ओर निहारती रहीं। उनमें अनन्त अनुराग भरा था, किन्तु मुख से वे विष उगल रहे थे। वे गोपियों को चुप देखकर फिर बोले—"देखो, स्त्रियों का एकान्त में परपुरुष के समीप अधिक देर ठहरना उचित नहीं। तुम अपने घरों से बिना कहे ही चली आयी हो। वहाँ तुम्हारे माता, पिता, पुत्र, सास, ससुर, सगे, सम्बन्धी, भाई बन्धु, पति तथा पुत्र आदि तुम्हें खोज रहे होंगे। रात्रि में तुम्हें न पाकर वे चिन्तित हो रहे होंगे। उन सबको तुम चिन्ता में मत डालो। व्यर्थ यहाँ ठहरने का कोई

काम नहीं। अकारण रात्रि के समय वन में ठहरने को शास्त्रकारों ने निषेध किया है। अतः तुम अपने-अपने घरों को चली जाओ।"

गोपिकायें अब समझ गयीं ये हमें भगाना चाहते हैं। अब तक जो इन्होंने प्रेम प्रदर्शित किया था, वह प्रेम नहीं था प्रेम का ढोंग था। ये हमसे घृणा करते हैं। हाय! स्त्री जाति की कैसी दुर्दशा है। वे कुछ बोलीं नहीं। सोचने लगीं—"इतने सुन्दर सुचिक्कण मधुर मुख में से ये विष भरी बातें निकल कैसे रही हैं। चन्द्रमा में से तो अमृत चूना चाहिये, इस चन्द्र मुख से विष की धारा क्यों बह रही है।"

श्यामसुन्दर बोले—"अच्छा, मैं अब समझा। आज की निशा अत्यन्त सुहावनी है, इसे वन्य प्रदेश में खड़े होकर देखने की लालसा सभी के मन में होती है। सम्भवतया तुम उसी लालसा से यहाँ दौड़ी आयी हो। वह लालसा तो तुम्हारी पूरी हो गयी। तुम चन्द्रमा की रश्मियों से रञ्जित, और यमुना जल की उत्ताल तरङ्गों के स्पर्श से शीतल तथा मन्द सुगन्धित पवन की गति से हिलते हुए नव पल्लवों से सुशोभित, इस शारदीय सुषमा से विकसित वृन्दावन की शोभा को देख ही चुकीं। तुम्हारा शारदीय निशा देखने का संकल्प तो पूरा हो ही चुका, अब देर करने का काम नहीं। अब तुम सब तुरन्त मिलकर ब्रज को लौट जाओ। गृहस्थियों के यहाँ यही समय तो काम का होता है। प्रतीत होता है, अभी तुमने गौएँ भी नहीं दुही हैं। जो बछड़े घास नहीं चुगते केवल दूध के ही आधार पर रहते हैं, वे भूखे होंगे, डकरा रहे होंगे, रम्हा रहे होंगे। तुरन्त जाकर उन्हें दूध पिलाओ। दूध पर ही रहने वाले बच्चे भूखे रो रहे होंगे, वे अभी सोये भी न होंगे। उन्हें जाकर दूध पिलाकर शैया पर सुलाओ। तुम्हारे पति दिन भर थके होंगे। उनकी जाकर सेवा

करो। इन सब गृहस्थियों के कामों को छोड़कर तुम सब यहाँ आ क्यों गयीं ?"

गोपियों का साहस टूट गया। किस निष्ठुर से प्रेम किया। इतने सौंदर्य माधुर्य में इतनी निष्ठुरता भी रह सकती है क्या, इसका हमें पहिले से पता होता, तो कभी प्रीति ही न करतीं, किन्तु करें क्या अब तो फँस गयीं। छछून्दर की-सी गति हो गयी न निगलते बनता है न उगलते ही। ये बढ़ते ही जाते हैं, हमें भगाने पर उतारू हैं। प्राण रहते हुए हम यहाँ से टल नहीं सकतीं। जिसको एक बार हृदय सौंप दिया, अब तो सदा के लिये उसी के हो रहे।

श्यामसुन्दर रुके नहीं वे कहते ही गये। उन्होंने कहा—"हो सकता है तुम मेरे स्नेह से आसक्त चित्त होकर यहाँ आयी हो, तो भी कोई बात नहीं। मुझसे स्नेह करना कोई दोष नहीं। क्योंकि परम स्नेहास्पद मैं ही हूँ। सभी प्राणी मुझसे स्नेह करते हैं और करना ही चाहिये। किन्तु प्रेम दूर का ही अच्छा होता है। अधिक निकट आने से उसमें गड़बड़ी हो जाती है। फिर अधर्म होने की सम्भावना हो जाती है। तुम सती हो, तुम्हारा धर्म है पति की सेवा। स्त्रियों के लिये पति ही परमेश्वर हैं, निष्कपट भाव से पति की सेवा करना ही उनकी परमाराधना है। पति की तथा पति से सम्बन्ध रखने वाले देवर, जेठ, सास, ससुर तथा अन्यान्य बन्धुओं की शुद्ध भाव से सेवा करना और सन्तानों का प्रेमपूर्वक पालन-पोषण करना यही स्त्रियों का परमधर्म है। परपुरुष से प्रीति करना पाप है।

पति का त्याग करना आर्य ललनाओं के लिये बड़ी कलंक की बात है। पति का त्याग किसी भी दशा में उचित नहीं। चाहे वह महाक्रोधी हो, दुष्ट स्वभाव का हो, भाग्यहीन हो सतियों को स्वयं कष्ट उठाकर उसे निभाना चाहिये। इसी में उनकी बड़ाई है,

महत्ता है। पति के त्याग की कभी कल्पना भी न करनी चाहिये। हाँ, वह सर्वथा पतित हो गया हो, विधर्मी बन गया हो, तो ऐसी दशा में तो त्याग करने को विवश ही होना पड़ता है।

गोपिकाओं ने सोचा—"ये कल के छोकरे श्यामसुन्दर हमें धर्मोपदेश देने को खड़े हुए हैं। यहाँ हम धर्मोपदेश सुनने को आयीं हैं क्या। धर्मोपदेश सुनने को तो ये भूरी-भूरी दाढ़ी वाले वेदज्ञ ब्राह्मण ही बहुत हैं। इतने त्रैलोक्यमोहन सौन्दर्य में से यह धर्मोपदेश सुवर्ण के कलश में विष के समान प्रतीत होता है।

श्यामसुन्दर रुके नहीं वे कहते ही गये कहते ही गये। बोले—"जो सती साध्वी कुलवती पतिव्रतायें हैं, उनके लिये जार सेवा सर्वत्र निन्दनीय है। जारों से आज तक किसी ने सुख पाया है? ये जार बड़े स्वार्थी होते हैं। अपने ही सुख को देखते हैं। जहाँ इनका स्वार्थ सिद्ध हुआ फिर ये बात नहीं करते। फिर स्त्री दूसरे जार को खोजती है, इस प्रकार उसे कभी शांति नहीं होती। विषय कभी भी भोग से शान्त नहीं होते। जैसे प्रज्वलित अग्नि में घृत डालने से वह और अधिक बढ़ती है ऐसे ही जारों के समीप कभी किसी को शान्ति नहीं, तृप्ति नहीं, और अधिक अशान्ति बढ़ती है। अतृप्ति होती है। जार पति को सेवन करने वाली को न इस लोक में शान्ति होती है न परलोक में। इस लोक में उसे अपयश मिलता है, परलोक में नरक की यातनायें भोगनी पड़ती हैं। यह अत्यन्त ही तुच्छ, नीच, निन्दनीय, भयदायक और कष्टकारक कर्म है।"

गोपियों ने सोचा—"जिन्हें हम भगवान् मानतीं हैं, क्या उनसे प्रेम करना कोई पाप है? क्या उन्हें जार कहना यह अन्याय नहीं है? भगवान से प्रेम करने में कुछ दोष है क्या? जब हम उन्हें अपना सर्वस्व सौंप चुकीं, तब हमारे मन में यदि काम भाव है, तो उसे शांत कराने किसके समीप जायँ। वे हमारे

भावों को विशुद्ध बनावेंगे। हम उनसे प्रेम ही तो करती हैं।"

भगवान् फिर भी चुप नहीं हुए। वे बोले—"अच्छा, मानलो तुम मुझसे अनन्य प्रेम करती हो, तो प्रेम में अंग संग की तो अपेक्षा नहीं। नित्य नियम से मेरा गुण श्रवण करो, नित्य दोनों समय आकर श्रद्धा भक्ति से मेरे दर्शन किया करो, मेरी मूर्ति का ध्यान किया करो तथा नित्य मेरे सुमधुर नामों का कीर्तन किया करो। इन बातों से जितना मुझमें प्रेम होता है उतना मेरे समीप रहने से नहीं होता। समीप में अधिक रहने से तो अश्रद्धा हो जाती है। अति परिचय से अवज्ञा के भाव आने लगते हैं। अतः तुम सब अपने-अपने घरों को जाओ। वहीं बैठे-बैठे मेरा ध्यान, मनन और कीर्तन किया करो।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् के ऐसे कठोर वचन सुनकर गोपियों को महान् दुःख हुआ, वे थर-थर काँपने लगीं, उनका हृदय धड़कने लगा। वे केले के पत्ते की भाँति काँपने लगीं।"

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! भगवान् ने उन परम भावमयी गोपियों से ऐसी कठोर बातें क्यों कहीं?"

सूतजी बोले—"महाराज! ये बातें कुछ भीतर से थोड़े ही कहीं थीं। ये तो बनावटी बातें थीं। भीतर तो उनके प्रेम भरा था, ऊपर से केवल प्रेम परीक्षा के निमित्त ये बातें कहीं थीं, देखें, इनका मुझमें कितना प्रेम है।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! गोपिकाएँ तो अपना सर्वस्व श्रीकृष्ण को अर्पण कर चुकी थीं, उनके प्रेम में सर्वज्ञ श्रीकृष्ण ने शंका क्यों की? किसी अनन्य प्रेमा के ऊपर शंका करना तो पाप है। श्रीकृष्ण तो घट-घट की जानने वाले हैं उन्हें परीक्षा लेने की क्या आवश्यकता थी?"

सूतजी हँसकर बोले—"अजी, महाराज! इसे परीक्षा नहीं कहते हैं। यह तो प्रेम की रीति है। प्रेमास्पद अपने प्रेमी के

मुख से यह बात सुनने को सदा समुत्सुक बना रहता है कि 'जितना प्रेम मैं आपसे करता हूँ, उतना और किसी से नहीं करता।' इसी को सुनने को वह भाँति-भाँति की शंका करता है। उसके मुख से यह बात सुनकर उसका हृदय खिल उठता है। उससे प्रेम और बढ़ता है, दोनों ओर से बढ़ता है। ये बातें प्रेम को बढ़ाने वाली हैं घटाने वाली नहीं। प्रेम का बीज हृदय में उगता है, आँखों के जल से सींचने पर उसमें अंकुर उत्पन्न होता है और प्रेम की मीठी-मीठी बातों से वह बढ़ता है, पल्लवित पुष्पित होता है। प्रेमराज्य की अटपटी गति है। मुनियो! प्रेमी के बिना दूसरा इसे कौन समझ सकता है। ये रहस्य की बातें हैं।"

शौनकजी ने हँसकर कहा—"सूतजी! अब तुम्हारी इन प्रेम की टेढ़ी-मेढ़ी बातों का अर्थ हम क्या समझें, हम तो प्रेमहीन हैं।"

सूतजी बोले—"अजी, महाराज! आप सब जानते हो, आप ही तो सच्चा प्रेम करना जानते हो। ये विषय कीचड़ में फँसे संसारी लोग प्रेम करना क्या जानें। प्रेम तो विषयहीन चित्त में ही होता है।"

शौनकजी बोले—"सूतजी! इन बातों को छोड़िये, आगे की कथा सुनाइये। उन विचारी गोपिकाओं की क्या दशा हुई, उन्होंने क्या कहा?"

सूतजी बोले—"अच्छी बात है महाराज! सुनिये अब मैं गोपियों की दशा ही सुनाता हूँ।"

छप्पय—अनल अनिल जल जनित कष्ट कछु मजमहँ आयो।
क्यों निशि वेला सरिस पुलिनमहँ चित्त चलायो॥
शीतल मन्द सुगन्ध पवन पल्लव वन विकसित।
अथवा सुषमा शारदीय अवलोकन के हित॥
आईं अथवा नेहवश, प्रेम करहिँ मोमें सबहिँ।
पातिव्रत पालन करहु, जाओ निज निज घर अबहिँ॥

व्रजाङ्गनाओं की विवशता

(६६७)

मैवं विभोऽर्हति भवान् गदितुं नृशंसम्,
सन्त्यज्य सर्वविषयांस्तव पादमूलम् ।
भक्ता भजस्व दुरवग्रह मा त्यजास्मान्,
देवो यथाऽऽदिपुरुषो भजते मुमुक्षून् ॥*

(श्री भा० १० स्क० २९ अ० ३१ श्लो०)

छप्पय

सुनत श्याम के कठिन बचन व्रजवनिता रोईं ।
भयो हृदय दुख दुसह सबनि तन मन सुधि खोईं ॥
नयननि निकसत नीर कालिमा काजर की सँग ।
ढरकि हृदयपै गिरत मिलत कुचकुंकुमके रँग ॥
गङ्गा यमुना के सरिस, उमड़त हिय मुख मलिन अति ।
बनें भलें हीं कठिन हरि, हमरी तो वे एक गति ॥

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! भगवान के रूखे वचनों को सुनकर गोपिकायें कहने लगीं—"हे विभो ! आपके द्वारा ऐसे नृशंस वचन कहना योग्य नहीं । हम समस्त विषयों को त्यागकर आपके ही चरणारविन्दों में अनुरक्त हैं । हे दुरवग्रह ! हमें त्यागिये मत, आप हमें उसी प्रकार अङ्गीकार कीजिये, जिस प्रकार आदि पुरुष नारायण मुमुक्षुओं को भजते हैं ।"

जीवन भर प्रेम को निभाना यह अत्यन्त ही कठिन कार्य है। चित्त सदा एक-सा तो रहता नहीं, इसमें निरन्तर सात्विक, राजस तथा तामस उर्मियाँ उठती रहती हैं। पति पत्नी का जो जीवन भर निर्वाह हो जाता है, इसमें धर्म का, तथा परलोक का भय बना रहता है। इसलिये कर्तव्य पालन की दृष्टि से निभ जाता है। संसार में एक-सी तो कोई वस्तु रहती ही नहीं। सम्पूर्ण संसार परिवर्तनशील है, कोई घटती है कोई बढ़ती है, किन्तु प्रेम प्रतिक्षण बढ़ता ही है, इसमें घटने का नाम नहीं। जो घट जाता है, वह प्रेम नहीं मोह या विषयाकर्षण है। प्रेम में क्षण-क्षण पर परीक्षा देनी होती है। क्योंकि कुछ रुककर जो जल प्रवाहित होता है, उसका प्रवाह अत्यन्त तीव्र होता है। प्रेम में एक प्रेमास्पद होता है एक प्रेम करने वाला प्रेमी होता है। प्रेमास्पद—अपना प्रेष्ठ—तो स्वतन्त्र है, वह जो चाहे सो बके, जो चाहे सो करे प्रेमी उसकी ओर ध्यान नहीं देता। वह अपने मन में यह कभी नहीं सोचता,-कि उन्होंने यह बात क्यों कही। उसे तो सर्वदा एक ही चिन्ता बनी रहती है हमारे प्रियतम हमसे अप्रसन्न न हों। अप्रसन्नभी हो जायँ, तो यह तो हो नहीं सकता इन्हें छोड़कर किसी दूसरे से प्रेम कर लें। जैसे होगा रोकर-धोकर, पैर पकड़कर हमें उन्हें ही मनाना होगा, उन्हें ही प्रसन्न करना होगा, सौ-सौ शपथ खाकर उनकी शङ्का का निवारण करना होगा, उन्हें विश्वास दिलाना होगा, हमारी तुम्हीं गति हो, हमारी मति तुममें ही है। तुम्हें छोड़कर हमारा कोई सहारा नहीं। ठुकराओ, चाहे अपनाओ इन चरणों को छोड़कर जीवन में हमारी कोई अन्य गति नहीं। इन अनुनय विनय की बातों से प्रेम में अत्यधिक मिठास आ जाता है। हृदय और अत्यधिक द्रवित हो उठता है। जब मन नहीं मानता दोनों ओर से हृदय उछलने लगता है तभी रास होता है। लोक में भी देखा गया है जब

प्रेम सीमा को उल्लङ्घन कर जाता है, तभी मनुष्य नाचने लगता है। जिनका नाचने का व्यवसाय ही है, जो अभिनय करके ही अपनी आजीविका चलाते हैं, उनकी बात दूसरी है। घी शकर का लड्डू सुन्दर हो, असुन्दर हो, टेढ़ा हो, सीधा हो, गोल हो, लम्बा हो स्वादिष्ट ही होता है। इसी प्रकार प्रेम की बातें कठोर हों, सरस हों, सीधी हों, कैसी भी क्यों न हों, प्रेम को बढ़ाने हो वाली होती हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब श्यामसुन्दर ने आई हुई गोपियों से प्रथम ही ऐसी प्रेमहीन, नीरस कठोर बातें कहीं, तब गोपियों का समस्त उत्साह भङ्ग हो गया। उनका मुखमंडल म्लान हो गया। उनकी आशा लता मुरझा गयी, प्रेमालिङ्गन की आशा निराशा में परिणित हो गयी। वे अगाध दुस्तर चिन्ता सागर में निमग्न हो गयीं।

मुनियो! उस समय उन प्रेमपिपासिता अबलाओं की दशा परम दयनीय थी। दूसरा कोई सहृदय देख ले, तो उसका हृदय विदीर्ण हो जाय। वे शोक के कारण दीर्घ और उष्ण निश्वास ले रही थीं। नासिका के उष्ण उच्छ्वासों के कारण उनके बिम्बा-फल के सदृश कोमल अधरोष्ट मुरझाकर सूख-से गये थे। बिना जल के जैसे कमल का विकसित पुष्प कुम्हिलाकर नीचे झुक जाता है, उसी प्रकार निराशा के कारण वे नीचा मुख किये निरन्तर पृथ्वी की ओर निहार रही थीं। "पृथ्वी की ओर क्यों निहार रही थीं जी?" इसलिये कि पृथ्वी भी स्त्री है। स्त्री ही स्त्री की वेदना का अनुभव कर सकती है। पुरुष तो स्वार्थी होता है, वह प्रेम भी करता है, तो स्वार्थ से। फिर वह ऐसी कठोर बातें कह देता है, कि कोमलांगी अबलायें उसे सहन करने में समर्थ नहीं होतीं, फिर भी सहनी ही पड़ती हैं। न सहें तो जायँ कहाँ? कहीं भी जायँ, पाला पुरुषों से ही पड़ेगा। सभी पुरुष एक तराजू

के चट्टे बट्टे हैं। कोई छोटा कोई बड़ा। प्रकृति तो सभी की कठोर है। गोपिकायें पृथ्वी से कह रही हैं। देवि! इन काले ने तुम्हारी पुत्री सीता के साथ भी ऐसी कठोरता की थी। राजपुत्री राजरानी होकर वन-वन इन काले रङ्गवाले के साथ भटकी। रावण उन्हें ले गया। उसे मारकर जब ये छुड़ाकर लाये तो उनका मुख खिल उठा—"राघव! मुझे कितना प्यार करते हैं।" किन्तु ये कीर्तिलोलुप पुरुष प्यार करना जानते ही नहीं। ये तो वधिकों की भाँति तीक्ष्ण बाण मारकर घायल करना जानते हैं। लाल-लाल आँखें करके वे नीलमणि के सदृश वीर बोले—"सीते! सुनती है, मैं तुझे प्रेम के कारण छुड़ाकर नहीं लाया हूँ। अपनी कीर्ति स्थापित करने-अपना कलंक दूर करने के निमित्त मैंने तुझे छुड़ाया है। तू नौ महीने रावण के घर में रही, अब तू मेरे योग्य नहीं रही। अब तू चाहे जहाँ चली जा। जिसे चाहे अपना पति बना ले। भरत के संग रह या लक्ष्मण को पति बना ले। या इन वानरराज सुग्रीव के संग चली जा या विभीषण को भज।" सीताजी यह सुनकर सन्न रह गयीं। "हाय! ये पुरुष जाति के लोग कितने कठोर हृदय के होते हैं। स्वप्न में भी कभी-मन से भी मैंने परपुरुष का चिन्तन नहीं किया, फिर ये भरी सभा में सबके सम्मुख मुझे लांछित करते हैं। अच्छा, अब इस शरीर को न रखूँगी।" यह सोचकर चिता चुनकर वे जलने लगीं। राघव ने उन्हें रोका नहीं। वे चिता में बैठ ही गयीं। सुवर्ण की भाँति खरी उतरीं। तब राम ने उन्हें अपनाया, फिर जब गर्भवती थीं तभी किसी ने कह दिया—"राम कामी है। रावण के घर में रही हुई सीता को फिर अपने घर में रख लिया।" इससे फिर उन्होंने समझा मेरी कीर्ति में बाधक यह सीता ही है। फिर उसे हिंसक पशुओं से भरे घोर जंगल में छुड़वा दिया। राजरानी होकर गर्भवती अवस्था में एक दाने-दाने अन्न को भटकती रहीं।

अयोध्या से वाल्मीकी आश्रम कुछ दूर नहीं था। बारह वर्षों तक एक दिन भी राम ने उनकी सुधि नहीं ली। फिर उन्हें बुलाया। इतना अपमान सहकर भी कोई प्राणी आ सकता है या जी सकता है? किन्तु इस स्त्री जाति के हृदय में बूढ़े बाबाब्रह्मा ने इतनी सहनशीलता भर दी है, कि उसे सब कुछ सहना पड़ता है। वाल्मीकजी ने शपथ के ऊपर शपथ खाई। ऋषियों से हाँ कराई, राम को डाँटा डपटा, उस समय मुख नीचा किये साक्षात् लज्जा के समान सिकुड़ी हुई सीताजी आईं। कठोर राम ने इतने दिन के पश्चात् भी उनसे प्रेम की दो बातें नहीं कीं। आते ही कहा—"अपनी परीक्षा दो।"

पहिले उन्होंने अग्नि की गोद में बैठकर परीक्षा दी थी। अब के सोचा—"यह अग्नि भी तो पुरुष ही है। इसके द्वारा दी हुई परीक्षा विफल हुई। अब किसी स्त्री की गोद में बैठकर परीक्षा दूँ। इसलिये नीचा मुख करके हे देवि पृथ्वी! उन्होंने तुम्हारी ओर देखा, तुमने उन्हें विवर दे दिया। वे उसमें समा गयीं, विलीन हो गयीं। तब कहीं जाकर राम का हृदय पिघला। सो हे माता! अब हमें तुम बिल दे दो। उसमें हम समा जायँ।" इसीलिये बार-बार पृथ्वी की ओर देख रही थीं, किन्तु पृथ्वी ने बिल नहीं दिया, नहीं दिया। वह न फटी न उसमें से सुवर्ण सिंहासन ही निकले।

जब पृथ्वी फटी नहीं, तो वे अपने कोमल चरणों के लाल-लाल नखों से उसे कुरेदने लगीं, कि देवी फट जाओ, फट जाओ, किन्तु नखों से कितनी पृथ्वी खुद सकती है, वे निराश होकर रोने लगीं। घर से बड़े चाव से मोटा-मोटा काजर लगाकर चली थीं। काजर अभी तुरन्त का ही लगाया था, आँसुओं के साथ वह भी बहने लगा। उनके गोल-गोल अरुण उभरे हुए कपोलों पर से लीक करता हुआ वह कज्जल मिश्रित अश्रुजल उनके

वक्षःस्थल पर गिरने लगा। अभी तक वक्षःस्थल पर जो चन्दन मिश्रित कुंकुम का लेप किया था, वह सूखा नहीं था। नेत्रों का काला जल जब कुचकुंकुमों पर पड़ा, तो उसके रङ्ग में मिलकर वह होली-सी खेलने लगा। वस्त्रों को काला-पीला रँगने लगा। गोपियों को इसका ध्यान ही नहीं था। वे कुछ बोलीं नहीं, बैठीं नहीं, चुपचाप नीचा मुख किये खड़ी रहीं।

वे सोचने लगीं—"हाय! जिनके निमित्त हमने अपने समस्त संसारी विषय छोड़ दिये, वे आज इतने निष्ठुर बन गये हैं। स्त्री जाति का जीवन विवशता से भरा हुआ है। उसमें पग-पग पर विवशता का अनुभव करना पड़ता है। मनुष्य अपने को दूध का धुला समझता है। स्वयं चाहे रावण का व्यवहार करे किंतु स्त्री से वह यही आशा रखता है वह सती सीता ही सदा बनी रहे। पुरुष के लिये स्त्री कितना भी त्याग करे, किन्तु पुरुष निष्ठुर ही बना रहता है। फिर भी यह प्रेम-बन्धन इतना सुदृढ़ है कि स्त्री प्रियतम को छोड़कर मन से भी किसी की कल्पना नहीं कर सकती। पुरुष की कठोरता उसे और भी अधिक उसकी ओर आकर्षित करती है। प्यारे चाहें कुछ कहें, हमें रोकर उनके हृदय को कोमल बनाना है। अनुनय विनय करके उनके अन्तःकरण में दया को उदय करना है।" यही सब सोचकर उन्होंने अपने-अपने कोमल करों की गुदगुदी गद्दी से, नेत्रों से बहते हुए आँसुओं को पोंछकर गद्गद वाणी से, प्रणयमिश्रित कोप के स्वर में अप्रिय भाषण करने वाले श्यामसुन्दर के प्रति कुछ कहना आरम्भ किया। वे लज्जा, प्रेम अनुराग और संकोच के स्वर में भर्राई हुई वाणी से कहने लगीं—"हे विभो! और कोई कहे तो कहे। किन्तु आप सर्वान्तर्यामी को तो हमसे ऐसे कठोर वचन न कहने चाहिये।"

भगवान् ने कहा—"क्यों ? मैंने इसमें कठोर बात कौन-सी कही ?"

गोपियों ने कहा—"आप संदेह करते हैं, कि हम किसी दूसरों से प्रेम करती हैं। आप सोचते होंगे हमारा लौकिक पतियों में, पुत्रों में, बन्धु बान्धवों में चित्त फँसा हुआ है। हम शपथ खाकर कहती हैं, हम सब एकमात्र आपके चरणकमलों में ही अनुरक्त हैं। हमारी दूसरी कोई गति नहीं। जब से हमें आपके दर्शन हुए हैं, तब से हमारा चित्त आपकी ही ओर खिंच गया है। हमने अपना तन, मन, धन तथा सर्वस्व आपके चरणों में ही समर्पित कर दिया है। आप तो स्वच्छन्द हैं। बहुवल्लभ हैं। आपके लिये प्रेम करने को इतना बड़ा संसार पड़ा है। आप किसी एक के हो नहीं सकते, किन्तु हमारे तो एकमात्र आप ही हैं। हमारी विनय यही है, कि आप हमारा परित्याग न करें। आपकी प्रतिज्ञा है कि "मैं शरणागत का सदा प्रतिपालन करता हूँ, उनका त्याग कभी नहीं करता।" हमने भी तो सब कुछ छोड़कर आपके ही चरणों की शरण गही है, फिर आप हम सबका परित्याग क्यों कर रहे हैं ? क्यों ऐसी कठोर बातें कह रहे हैं। जो मुमुक्षु मुक्ति की इच्छा से मुक्तिदाता आदि पुरुष श्रीमन्नारायण की शरण जाते हैं उनकी वे इच्छा पूरी करते हैं, उन्हें मुक्ति प्रदान करते हैं। इसी प्रकार प्रेम की इच्छा से सबका सम्बन्ध छोड़कर जो हमने आपके चरणों की शरण गही है, तो आप हमें प्रेम प्रदान क्यों नहीं करते ? आप हमें कठोर बातें कह-कहकर ठुकराते क्यों हैं, अपनाते क्यों नहीं, अपने हृदय से क्यों नहीं सटाते, प्रेमालिंगन प्रदान करके हमारे हृदय के संताप को दूर क्यों नहीं करते ? क्यों हमें निराश कर रहे हैं ?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इस प्रकार मधुर शब्दों में विनय करने के अनन्तर अब गोपिकायें भगवान् के कहे हुए

वचनों का खंडन करने लगीं। उनकी सभी बातों का मधुर वचनों में उत्तर देने लगीं। अपनी अनन्यता सिद्ध करने लगीं और भगवान् को सर्वगत सर्वसाक्षी सर्वेश्वर सिद्ध करने लगीं। उस प्रसंग को मैं आगे कहूँगा। यह बड़ा गूढ़ और गहन विषय है। अतः आप इस सब भली-भाँति समाहित चित्त से श्रवण करने की कृपा करें।"

छप्पय

पुनि कछु धीरज धारि पोंछि आँसू बोलीं सब।
प्रेमपाश महँ फाँसि निठुर अति कहहु वचन अब॥
जाओ-जाओ बार-बार जिह बात कही है।
जाइँ कहाँ सब त्यागि शरन तव चरन गही है॥
शरनागत को त्यागिबो, दुसह पाप वेदनि कह्यो।
तव चरननि महँ आइ हम, धरम करम सब कछु लह्यो॥

—:—

प्रियत्व आत्मा में ही है

(६६८)

यत्पत्यपत्यसुहृदामनुवृत्तिरङ्ग
स्त्रीणां स्वधर्म इति धर्मविदा त्वयोक्तम् ।
अस्त्वेवमेतदुपदेशपदे त्वयीशे
प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मा ॥*

(श्रीभा० १० स्क० २६ अ० ३२ श्लो०)

छप्पय

सुत पति सेवा करन दयो उपदेश हमें तुम ।
परि समर्फे सर्वस्व प्रानपति तुमकूँ सब हम ॥
प्रियता जगमहँ होहि सबनि महँ तुमरे कारन ।
कैसे हम करि सकें आपुकी शिक्षा धारन ॥
कुशल शास्त्रविद् सकलजन, करहिँ प्रेम तुम प्रेष्ठमहँ ।
का पति सुत जगप्रेमतैं, होवे यदि रति श्रेष्ठमहँ ॥

प्रियता आत्मा में ही है । आत्मीयता में ही प्रीति होती है । प्रीति का कारण सौंदर्य, धन, विद्या, यश तथा कुलीनतादि गुण नहीं

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! गोपिकायें भगवान् से कह रही हैं—"हे प्यारे ! आप धर्म को जानने वाले हैं। आपने जो 'पति, पुत्र और बन्धु बान्धवों की सेवा करना ही परम धर्म है' यह उपदेश दिया है, तो यह उपदेश आप ईश्वर में ही हों। आप ही देहधारियों के प्रियतम बन्धु और आत्मा हैं।"

हैं। कोई कितना भी सुन्दर है, उसमें हमारी आत्मीयता नहीं है, हमारे लिये वह सर्वसाधारण के समान है। इसके विपरीत कोई अत्यन्त कुरूप है, उसमें हमारी आत्मीयता हो गयी है, तो वह प्रिय से भी प्रिय है। इसी प्रकार कोई कितना भी धनी हो, यशस्वी अथवा कुलीन हो, जब तक उसमें ममत्व नहीं, अपनापन नहीं तब तक उसके धन, यश, विद्या और कुलीनता से क्या प्रयोजन ?

स्त्री के लिये संसार में पति से प्यारा कोई नहीं। सत् स्त्रियाँ को जितना प्रिय सत्पति होता है, उतना वे प्यारा संसार में किसी को नहीं समझतीं। अब सोचिये, स्त्रियाँ क्या पति के शरीर से प्यार करती हैं। यदि शरीर से ही प्यार करती होतीं, तो मृतकावस्था में भी तो वही शरीर रहता है आँख, कान, मुख, नाक, हाथ, पाँव तथा अन्यान्य अङ्ग प्रत्यङ्ग वे ही हैं, केवल जीवात्मा के शरीर को त्याग देने से वह शरीर घृणास्पद हो जाता है, उसे अधिक घर में रखते नहीं जला देते हैं। इससे सिद्ध हुआ प्रियता शरीर में नहीं थी आत्मा में थी। चैतन्य में थी। सम्पूर्ण शरीरों में चैतन्यता एक ही स्थान से आती है जिसका प्रेम उस केन्द्रीय स्थान से हो जाय, उसे फिर अन्य पृथक् पृथक् स्थानों में प्रेम करने की क्या आवश्यकता। जिसका स्नेह राजा से हो जाय, उससे राजा के अनुयायी प्रेम करने को विवश हो जायँगे। मट्ठे की याचना तो घर-घर वही करता फिरेगा। जिसके यहाँ विपुल मात्रा में दूध न हो। जिसके यहाँ पर्याप्त दूध होता है, वह चाहे उसी का दही बना ले, मक्खन बना ले, खोया बना ले, छैना बनाकर रसगुल्ला बना ले। इसी प्रकार ये संसारी माता, पिता, भाई, पति, मित्र, बन्धु-बान्धव तथा कुटुम्ब परिवार वाले तभी त कप्रिय लगते हैं, जब तक सर्वान्तर्यामी–सबके आत्मस्वरूप–प्रभु में प्रेम नहीं होता। उनसे प्रेम हो जाय, तब ये सब व्यर्थ से

हो जाते हैं। उनसे प्रेम हो जाय फिर उन्हें चाहे स्वामी मान लो, सखा मान लो, पुत्र अथवा पति मान लो कोई सम्बन्ध मानकर उनसे प्रेम करो, सुख ही सुख है। आनन्द ही आनन्द है। निरानन्द का लेश भी नहीं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! गोपियों के आने पर श्रीकृष्ण ने इतने प्रश्न पूछे थे। व्रज में कुशल तो है, तुम अँधेरी राति में यहाँ क्यों आयीं? व्रज पर कोई आपत्ति तो नहीं आ गयी? क्या तुम शारदीय रात्रि की सुषमा का अवलोकन करने आयी हो? मेरे स्नेह से आयी हो? या मुझमें पति भाव रखकर मेरे साथ क्रीड़ा करने की इच्छा से आयी हो?" इन सब बातों को उन्होंने उचित बताकर अन्त में यही कहा—"ये सब यथार्थ ही हैं, किन्तु अब लौट जाओ। तुम यदि मुझमें जारभाव रख कर आयी हो, तो यह कुलवती स्त्रियों के लिये कलंक की बात है।"

व्रजांगनाओं ने इन सभी प्रश्नों का उत्तर एक ही बात में दे दिया। उन्होंने संक्षेप में यही कहा —"हम अन्य सम्पूर्ण विषयों को छोड़कर एक मात्र आपके ही चरणकमलों में अनुरक्त हैं। अतः आप हमारा त्याग न करें।"

भगवान् ने कहा—"तुम मुझमें ईश्वर बुद्धि रखती हो, यह उचित ही है, किन्तु स्त्रियों का धर्म यह है, कि वे पति, पुत्र तथा बन्धु-बान्धवों की निरन्तर सेवा करती रहें।"

व्रजांगनाओं ने कहा—"जैसी प्रीति सबकी पति में, पुत्रों में तथा बन्धु-बान्धवों में होती है, वैसी प्रीति हमारी आप में है।"

भगवान् ने कहा—"होने में तो कोई हानि नहीं, किन्तु सती स्त्रियों का धर्म तो पति की सेवा है, पति को ही परमेश्वर मानना है।"

इस पर एक गोपी ने कहा—"श्यामसुन्दर! हम एक कथा सुनाती हैं, सुनोगे? हम एक प्रश्न पूछती हैं, उत्तर दोगे?"

भगवान् ने कहा—"हाँ, सुनाओ। उत्तर देने योग्य बात होगी, तो उत्तर देंगे ही।"

गोपी बोली—"एक पतिव्रता स्त्री थी। पति को प्राणों से अधिक प्यार करती थी। सदा पति की सेवा में ही लगी रहती थी। संयोग की बात एक बार पति को आवश्यक कार्यवश परदेश जाना पड़ा। पतिव्रता ने कहा—"प्राणनाथ! मैं आपके बिना कैसे जीवित रह सकूँगी। मेरा तो एकमात्र व्रत आपकी सेवा करना ही है। मुझे जीवन का अवलम्ब बताइये।"

पति भी अपनी पत्नी को हृदय से प्यार करता था। उसने अपनी एक मृत्तिका की प्रतिकृति-सुन्दर मूर्ति-बनवाकर पत्नी को दी और कहा—"तू इसी को मेरा रूप मानकर सेवा करना। इतने समय में मैं लौट आऊँगा।" यह कह कर वह चला गया।

यद्यपि वास्तव में वह मृत्तिका की मूर्ति पति नहीं थी, किन्तु उसमें पति की आज्ञा से पति की भावना रखकर वह श्रद्धाभक्ति से उसकी पूजा किया करती थी। उसी के सामने रोती, उसी का चरणामृत लेकर पान करती, उसी को भोग लगाकर प्रसाद पाती।"

एक दिन वह उस पति-प्रतिमा की प्रेमपूर्वक पूजा कर रही थी। सहसा उसके पति ने किवाड़ें खटखटाईं, उसे प्रेमपूर्वक पुकारा। अब बताइये उसका धर्म क्या है वह उस मृत्तिका की प्रतिमा के पूजन में लगी रहे या पति का आह्वान सुनकर-सब कुछ छोड़कर-द्वार पर दौड़ी जाय?"

भगवान् ने कहा—"इसमें भी क्या पूछने की बात है। जब उसका यथार्थ पति आ गया। वही जब उसे प्रेमपूर्वक बुला रहा है, तो फिर मृत्तिका के माने हुए पति की पूजा की क्या आवश्यकता है?"

गोपी ने कहा—"तो देखिये, अब आपके मुख से ही आपकी

बात का खण्डन हो गया। आपने कहा था 'पति में परमेश्वर भावना करके उसकी सेवा करो।' इससे यही सिद्ध हुआ कि परमेश्वर कोई दूसरा है। हाड़-मांस के बने पति में उसकी भावना की जाती है। जब हमें यथार्थ परमेश्वर ही मिल गये और उन्होंने ही वंशी बजाकर हमें हठात् अपने समीप बुला लिया, तो फिर हम अब लौटकर कहाँ जायँ ?"

भगवान् ने कहा—"तुम्हारे सगे सम्बन्धी तुम्हारे लिये चिन्तित हो रहे होंगे ?"

गोपियों ने कहा—"वे चिन्तित क्यों हो रहे होंगे, इसीलिये कि हमने उनमें अपनापन कर रखा है। अब हम सब चाहती हैं कि उन सबमें जो हमारा अपनापन है, वह सब बटुरकर आपमें ही लग जाय, क्योंकि प्राणीमात्र के प्रिय से भी प्रिय बन्धु आप ही हैं। जीव मात्र के अन्तरात्मा आप ही हैं। आपके ही द्वारा सबका जीवन है। जब हमने सर्वान्तर्यामी जीवनाधार की शरण ले ली, तब हमें और किसी के समीप जाना नहीं चाहिये। मूर्खों की बात तो हम कहती नहीं। वे अज्ञानी तो इस हाड़-मांस के बने पांचभौतिक शरीर को ही आत्मा मानते हैं, किन्तु शास्त्रकुशल पुरुष आत्मस्वरूप आपमें ही प्रेम करते हैं। संसार में किया हुआ प्रेम तो अनित्य है। यदि रूप के कारण है तो रूप के नष्ट होने पर प्रेम भी नष्ट हो जाता है, यदि देह के कारण है, तो भी नाशवान् है, किन्तु आप तो अविनाशी हैं, अतः आप ही नित्य प्रिय हैं, आपसे ही प्रेम करने में सुख है। जिनका आपसे प्रेम हो गया, उन्हें तो ये पति पुत्रादि मिट्टी के पुतले प्रतीत होते हैं। पुत्र से प्रेम करो दुःख ही दुःख है। छोटा है तो निरन्तर उसके मलमूत्र को धोते रहो। कहीं कथा सत्संग में गये, बच्चा रो पड़ा चिल्ला उठा अपनी भी कथा छूटी अन्य श्रोताओं को भी कष्ट हुआ। आठों पहर उसी का मुँह जोहते रहो, अस्वस्थ हो जाय,

रात्रिभर जागकर उसकी सेवा करो। बड़ा हो जाय, उसे पढ़ाओ लिखाओ। फिर उसके लिये सुन्दर-सी बहू खोजो। बहू आ गयी तो दोनों की सेवा करो। उनकी दिन रात बातें सुनो। उनके सुख दुख में सुखी दुखी हो। लड़का कहीं मर जाय, तो रोते-रोते अंधे हो जाओ। बताइये इसमें क्या सुख है। व्यर्थ की मोह ममता है। अतः हे परमेश्वर! आप हम पर प्रसन्न हो जायँ, हमारी आशा लता पर तुषाराघात न करें, हमें ठुकरावें नहीं। अपना लें, अपनी दासी बना लें, अपने हृदय से सटा लें। देखिये, हम कब से आशा लगाये बैठी थीं, कब से दिन गिन रहीं थीं। कब से इस रात्रि की प्रतीक्षा कर रही थीं। आप हमें मँझधार में लाकर डुबो रहे हैं, क्या यह कोई अच्छी बात है? कब से हम फिरकनी की भाँति आपके घर की खिड़की के आस-पास चक्कर लगाया करती थीं। जब भी आपके घर की ओर से निकलतीं मन चाहता था, चलें आपके समीप चलके आपके दर्शन कर लें, आपसे प्रेम की दो मीठी-मीठी बातें कर लें। माता-पिता परिजनों के घिरे रहने से हमें कभी ऐसा अवकाश नहीं मिलता था, कि आपसे हृदय की बात कह सकें। अपनी वेदना व्यक्त कर सकें। आज जब आप एकान्त में मिले भी तो ऐसी निष्ठुरता की बातें कहने लगे। ऐसा धर्मोपदेश देने लगे। यह धर्मोपदेश अपनी मैया यशोदाजी को देना। समझे लालजी! हम पोथी लेकर तुमसे धर्मशास्त्र का पाठ करने नहीं आयी हैं। हम तो आपको प्रेष्ठतम-परम प्रेमास्पद-समझकर प्रेम की याचना करने के निमित्त आयी हैं। हमें प्रेम प्रदान करो। हमें बहुत व्याकुल मत बनाओ।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! गोपिकाओं के मुख से ऐसी स्नेह में भीगी प्रेम की बातें सुनकर श्रीकृष्ण के हृदय में प्रेम सागर के समान हिलोरें उठने लगीं। फिर भी वे प्रेम को और

बढ़ाने के लिये बोले—"गोपियो! यह तुम्हारा कथन सब सत्य है, फिर भी तुम्हें इस समय इस घोर वन में न रहना चाहिये। अब तुम लौटकर अपने-अपने घर को चली जाओ।"

इस पर प्रेम कोप में भरी हुई गोपिकायें अश्रुपूर्ण लाल-लाल नेत्रों से श्रीकृष्ण की ओर निहारती हुई गद्गद वाणी से बोलीं—"आप बार-बार जाने को कहते हैं, सो हम कहाँ जायँ? गमन किया तो पैरों से होता है, अब पैर हमारे अधीन नहीं रहे, वे एक डग भी आगे नहीं चल सकते। आप कहते हो, जाकर घर के काम-काज करो, काम-काज तो करों से होते हैं, कर हमारे व्यर्थ बन गये। उनसे कुछ काम होता नहीं। इसमें हमारा अपराध नहीं। अपराध तो तुम्हारा है। हम सुखपूर्वक घर के कामों में लगी हुई थीं। घर के सब काम धन्धों को कर ही रही थीं। आपने मधुर मुरली बजाकर चित्त को हर लिया, अपनी ओर आकर्षित कर लिया। अब कहते हो, जाओ-जाओ। जायँ कैसे? हमारे पैर तो चिपक गये हैं, वे आपके समीप से एक तिल भी खिसकना नहीं चाहते, यदि आप हमें बलपूर्वक अपनी सामर्थ्य से भेज भी देंगे, तो हम क्या कर सकती हैं, अबला हैं, विवशा हैं चली जायँगी। हमारे मुख में एक ग्रास अन्न, एक बूँद जल भी न जायगा। हम रात्रि-दिन रोती रहेंगी। रोते-रोते सब समय को बिता देंगी। न हमसे घर के काम होंगे न किसी की सेवा सुश्रूषा होगी, जिस नरक से निकलकर हम आयी हैं, वहीं ही आप हमें फिर भेजना चाहते हैं।"

भगवान् ने कहा—"तुम सब मेरे दर्शनों के ही निमित्त तो आयी थीं, दर्शन हो गये। बातें भी हो गयीं। अब जाओ. देर करने का काम नहीं।"

गोपिकाओं ने कहा—"आज फिर दर्शनों से तृप्ति होती नहीं है। मुरली की मनोहर तान ने हमारे हृदय

इंधन में एक चिनगारी डाल दी, उससे बड़ा धूँआ उठा। हम उससे व्याकुल होकर मुरली के उद्‌गम स्थान की खोज में चलीं। यहाँ आकर आपको मंद मुसकानमयी चितवन ने एक फूँक मार कर उस कामानल को प्रज्वलित और प्रबल बना दिया। अब उसे शान्त करना आपके ही हाथों में है। ये जो तुम्हारे कोमल रसीले लाल-लाल अधर हैं, इसमें से जो अधरामृत चू रहा है, इसके वेग को प्रबल करके उसके प्रवाह से हमारी कामाग्नि को शान्त कर दीजिये। हमारे काँपते हुए कपोलों पर उन्हें स्थापित करके इस ताप सन्ताप को शान्त कर दीजिये। यदि आपने दया न की, हमारी उपेक्षा कर दी, तो आपके विरह से उत्पन्न होने वाले अनल से हमारे शरीर भस्म हो जायँगे। और हम सब आपका ही चिन्तन करती हुई परलोक प्रयाण कर जायँगी। दिव्य शरीर से आपके चरणों की सन्निधि प्राप्त करेंगी।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इतना कहते-कहते गोपिकायें मूर्छित हो गयीं, किन्तु कठोर कृष्ण नहीं पसीजे, नहीं पसीजे। वे ज्यों-के-त्यों निष्ठुर बने ही रहे।"

छप्पय

कमलनयन! अब कठिन हृदय बनि मत ठुकराओ।
फूली आशा लता ताहि नहिं नाथ जराओ॥
जाहिं कहाँ का करें चित्त नहिं वशमहँ प्यारे।
कर, पद अब गतिहीन अङ्ग सब भये हमारे॥
अरे, निर्दयी! प्रथम तो, जाल प्रेम को डारिकें।
अब फँसाइ व्याकुल करत, क्यों नहिं डारे मारिकें॥

—०—

कामाभितप्ता व्रजवल्लभी

[६६६]

तन्नः प्रसीद वृजिनार्दन तेऽङ्घ्रिमूलम्
प्राप्ता विसृज्य वसतीस्त्वदुपासनाशाः ।
त्वत्सुन्दरस्मितनिरीक्षणतीव्रकाम-
तप्तात्मनां पुरुषभूषण देहि दास्यम् ॥*

(श्रीभा० १० स्क० २९ अ० ३८ श्लोक)

छप्पय

मन्द-मन्द मुसकाय हृदयमहँ बान चुभोयो ।
करी प्रज्वलित आगि कामकी सरवसु खोयो ॥
प्यासी बनमहँ फिरहिँ दया हिरदेमहँ लाओ ।
अधरामृत अतिसुखद रमण ! भरिपेट पिआओ ॥
वधिक ! विरह विषबानतेँ, नहिँ हम सब मरि जाइँगी ।
दिव्य देहतेँ ध्यान धरि, चरन शरन तब पाइँगी ॥

रोग दो प्रकार के होते हैं, एक शारीरिक दूसरे मानसिक। शारीरिक रोग वात, पित्त, कफ की विषमता से होते हैं। शरीर

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! गोपिकायें कह रही हैं—"हे वृजिनार्दन ! आप हम पर प्रसन्न हों, हम अपने घर-द्वार को छोड़कर आपकी सेवा के निमित्त ही आपकी शरण में आयी हैं। हे पुरुष-भूषण ! आपकी चारुचितवन और मन्द मुस्कान से हमारा चित्त अत्यन्त कामतप्त हो रहा है। आप हमें अपनी दासी बना लीजिये।"

को जितने कफ की आवश्यकता है, उससे अधिक हो और पित्त, वात कम हो जायँ तो कफज रोग होंगे। वैसे तो ये तीनों ही सम्पूर्ण देह में व्याप्त हैं किन्तु कफ का प्रधान स्थान कंठ है। पित्त का स्थान कंठ से नाभि तक है और नाभि से नीचे वात का स्थान है। वात, पित्त, कफ जब घट-बढ़ जाते हैं, तो वे ही दोष कहलाते हैं और उनसे ज्वर, अतिसार, संग्रहणी, शोथ, शोष, प्रमेह, कुष्ट आदि रोग होते हैं। वातप्रधान पुरुष को वायु सम्बन्धी रोग अधिक होते हैं, जैसे खाज, दाद, अपानवायु का बहुत निकलना, शरीर में रूक्षता, मल का कठोर होना आदि, पित्त-प्रधान पुरुष को पित्त सम्बन्धी रोग अधिक होते हैं। तृषा का लगना दाह, धातु सम्बन्धी रोग आदि कफ प्रधान पुरुष को कफ सम्बन्धी रोग होते हैं। कफ की ग्रन्थि पड़ जाना। काक बढ़ जाना, श्लेष्मा होना आदि। इनके शमन के शास्त्रों में अनेक उपाय हैं। जैसे शारीरिक रोग वात, पित्त, कफ से होते हैं, वैसे ही मानसिक रोग सत्व, रज और तम इन तीनों गुणों के कारण होते हैं। मन में जब सत्वगुण की प्रधानता होती है तो सत्व-गुण से शान्ति होती है। चित्त शान्त हो जाता है, सद्-असद् का विवेक होता है। चित्त में जब रजोगुण तमोगुण की प्रबलता होती है, तब उसमें काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, अभिमान, मद, शोक चित्तोद्वेग तथा हर्षादि ये रोग उत्पन्न होते हैं। चित्त के इन सब रोगों में काम सबसे प्रबल रोग है। काम से ही क्रोध, लोभ-मोह-आदि की उत्पत्ति होती है। काम रोग स्त्री और पुरुष दोनों के मन में उत्पन्न होता है। काम की उत्पत्ति ब्रह्माजी से हुई है। उत्पन्न होते ही उसने ब्रह्माजी पर ही अपना प्रयोग किया। उस समय ब्रह्माजी ने यह नियम बना दिया कि छोटे बालकों को काम पीड़ा न देगा। अतः बालकों को छोड़कर काम-रोग सभी को पीड़ित करता है। काम की प्रबलता होने पर वह

मानसिक रोग ही न रहकर शारीरिक रोग भी बन जाता है। स्त्रियों को काम ज्वर होता है। उसकी इष्ट वस्तु की प्राप्ति ही औषधि है। पुरुषों को वीर्योन्माद रोग हो जाता है। उसकी भी औषधि इष्ट वस्तु की प्राप्ति ही है या एक नश से रक्त निकाल देने से भी वह शान्त हो जाता है। काम का वेग बड़ा प्रबल होता है। इतना प्रबल वेग किसी भी रोग का नहीं होता। स्त्रियों के बालों में, नेत्रों में, मुख में, वक्षःस्थल में, नाभि में, गुह्य और जंघनों में काम का निवास विशेष रहता है। अतः श्रेयस्कामी को इन स्थानों का कामभाव से कभी भी अवलोकन न करना चाहिये। पुरुष के हृदय में काम रोग उत्पन्न हो जाता है, तो उसका चित्त चंचल हो जाता है, नेत्रों में अनुराग छा जाता है, शरीर में पुलक होने लगती है और इष्ट वस्तु का निरन्तर चिंतन करता रहता है, किसी भी काम में मन नहीं लगता। वह अपने कर्तव्य को भूल जाता है। और जो काम न भी करना चाहिये उसे करने को उद्यत हो जाता है। इसी प्रकार स्त्रियों को कामवेग प्रबल हो जाय, तो उनमें अत्यन्त दीनता आ जाती है, अंग-अंग में अनुराग फूट पड़ता है बार-बार रोमाञ्च होते हैं। इष्टवस्तु की प्राप्ति से वह शान्त होता है। यही भाव यदि भगवान् में हो जाय, तो इसकी प्रेम संज्ञा हो जाती है। साधारण स्त्री पुरुष की अंग-संग इच्छा का नाम काम है। यही काम प्रबलवेग से परमात्मा में लग जाय, परमात्मा को अपना प्राणपति मानकर ये सब भाव उनमें हों, तो फिर यह परमपद प्राप्ति का प्रधान साधन बन जाता है। स्वाति का जल गोबर में पड़ने से ही बिच्छुओं को उत्पन्न करता है। सीप में पड़ने से तो मोती हो जाता है। इसीलिये गोपियों के कामभाव को विशुद्ध प्रेम कहा है। कामपीड़िता कामिनी की जैसी दशायें होती हैं, वे सभी उनकी वैसी ही हुईं, किन्तु भगवान् में होने से वे दूषण न कहा-

कर भूषण ही कहलायीं। अतः अब जो वर्णन होगा गोपियों की काम संतप्त अवस्था का ही होगा, पाठक उसमें प्राकृति बुद्धि न करके भगवद्भावना ही करें। यह तो प्रभु का रास-विलास है। अपने ही प्रतिबिम्बों के साथ क्रीड़ा है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! प्रेम एकान्त में व्यक्त होता है। ध्यान, भजन, पूजन तथा प्रेम सबके सम्मुख बढ़ता नहीं। इसीलिये साधक संसार का कोलाहल छोड़कर एकान्त वन में जाकर ध्यान करते हैं। समूह में रहने से चित्तवृत्ति बिखर जाती है। लोक में भी देखा गया है, दस-बीस स्त्री पुरुषों के साथ कोई आओ, कोई जाओ मन पर इसका कुछ विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। एक तो शील संकोच होता है। गुह्य भावों को व्यक्त नहीं कर सकते, दूसरे चित्त की वृत्ति भी बिखर जाती है। यदि विजन में, एकान्त में, स्त्री पुरुष को, पुरुष स्त्री को देख ले, तो विकार उत्पन्न हो ही जाता है। इसीलिये शास्त्रकारों ने बार-बार चेतावनी दी है अपनी सगी माता हो, बहिन हो, युवती पुत्री हो, इनके साथ में भी कभी एकान्त में न रहे, क्योंकि इन्द्रिय ग्राम बलवान् है, यह विद्वानों के मन को खींच लेता है। पति-पत्नी अपने भावों को एकान्त में–ऐसे स्थान में जहाँ बड़े बूढ़ों की–गुरुजनों के सुनने की आशंका न हो, वहाँ प्रकट करते हैं। इसीलिये इसे एकान्तिक भाव कहा है। जिसके मन में आशंका बनी रहती है उन्हें एकान्तिक सुख का यथार्थ रसास्वादन नहीं होता। प्रेम क्रमशः दर्शन से, स्पर्श से तथा अंग-संग से अधिकाधिक उत्तरोत्तर बढ़ता है। लोक में जो पति-पत्नी में भाव होता है, वही भाव गोपियों का भगवान् में था। प्रेम में जितनी ही आत्मीयता की बातें होंगी, उतना ही बढ़ेगा। प्रेमास्पद बार-बार यह सुनना चाहता है, आपके चरणों के अतिरिक्त मेरी कोई गति नहीं, इससे उसके हृदय में उसी प्रकार प्रेम का तूफान

उठता है, जिस प्रकार पूर्णिमा के दिन समुद्र में चन्द्रमा को देखकर उफान उठता है। प्रेमास्पद के हृदय में प्रेम की अभिवृद्धि होने से प्रेमी का उत्साह और भी बढ़ता है, फिर वह अपने प्रस्ताव को निःसंकोच अनावृत भाव से रखता है। जब दोनों ही ओर से प्रेम समुद्र अपनी मर्यादा का उल्लङ्घन करके उमड़ने लगता है, तभी रास विलास होता है। उसके पूर्व जो होता है, वह क्षणिक इन्द्रिय विकार है, तुच्छ है, उसमें सुख नहीं, शान्ति नहीं, हृदय दौर्बल्य है।

गोपिकाओं ने अनुभव किया, हम जो इतनी देर से श्यामसुन्दर की अनुनय विनय कर रही हैं, वह व्यर्थ नहीं जा रही है। श्यामसुन्दर के हृदय में अनुराग का उफान आ रहा है। यद्यपि ये ऊपर से तो ना-ना कर रहे हैं, कहावत है "मन-मन भावे, मूँड़ हिलावे"! मन तो इनका अनुराग में भीग रहा है। ये कितने चाव से तन्मय होकर हमारी बातों को सुन रहे हैं। इसलिये उनका साहस और बढ़ा वे कहने लगीं—"श्यामसुन्दर! देखो, हम अबलाओं के साथ अन्याय मत करो। सोचो तो सही। इस बीहड़ वन में हमारा क्या रखा है, हम घर बार, कुटुम्ब परिवार का मोह छोड़कर यहाँ क्यों पड़ी हैं। एकमात्र तुम्हारे लिये ही न? हे कमलनयन! तुम तो वनवासी मुनियों के प्यारे हो, सुनते हैं वन में रहकर भजन करने वालों से तुम प्रसन्न होते हो, इसीलिये हम घर छोड़कर वन में आयीं हैं? क्या तुम हमें प्यार न करोगे? सुनते हैं आप जब शेषशैया पर सुख से शयन करते हैं, तो लक्ष्मीजी चंचल होने पर भी आपके चरणों को निरन्तर पलोटती रहती हैं; क्या इन चरणों को पलोटने का अवसर हमें दोगे। आप सोचते होंगे, हम आपसे नया ही प्रेम करती हैं। बात ऐसी नहीं है। हम आपके चरणों की शपथ खाकर कहती हैं, जिस दिन से हमने आपके कमल के सदृश कोमल नवनीत

से भी अधिक स्निग्ध इन चरणों का स्पर्श किया, उसी दिन से हम आपके हाथों बिना मोल के बिक गयीं, आपकी क्रीतदासी हो गयीं। हमसे आप बीच यमुना में खड़े होकर कहला लो आप सर्वान्तर्यामी परमात्मा में हमारा पति भाव है और इस भाव को हम पाप भी नहीं समझतीं। क्योंकि जो आपको पुत्र बना लेती हैं, वे बच्चों की भाँति आपके मुख में स्तन दे देती हैं, या नहीं और आप भी उनकी भावनानुसार बेटा बनकर उनके स्तनों को चूसने लगते हैं या नहीं ? तो हम आपको पति रूप में स्वीकार करती हैं, आप हमारे वक्षःस्थल पर अपने चरणों को रखिये। आप एक बार कहें लाख बार कहें आपके अतिरिक्त हम अन्य किसी लौकिक पति पुत्रादि के सम्मुख ठहर नहीं सकतीं।"

भगवान् ने अत्यन्त भोलेपन से कहा—"तो तुम चाहती क्या हो, अपने वक्षःस्थल को तो मैंने लक्ष्मी को सौंप दिया है। उस पर तो उनका अधिकार है।"

गोपिकाओं ने दृढ़ता के स्वर में कहा—"हो उनका अधिकार हमें लक्ष्मीजी से कोई डाह नहीं। वे आपके हृदय पर विहार करें। हम उनके अधिकार को छीनना नहीं चाहतीं। किन्तु आप तो नाथ ! बहुवल्लभ हो न ? देखो, तुलसीजी आपके चरणों की सेवा करती हैं, भक्त आकर चरणों में गिरते हैं। जो आता है उसे ही आप अपने चरणों की शरण देते हैं। हृदय पर लक्ष्मीजी का अधिकार हो तो बना रहे, किन्तु ये चरण तो पञ्चायती हैं। जो आता है वही चरणों में पड़ जाता है। इससे चपला चञ्चला लक्ष्मीजी का चित्त चंचल हो उठता है, वे भी चरणों की सेवा करने को लालायित हो उठती हैं, उनसे भी आप मना नहीं करते, उन्हें भी चरण सेवा का अधिकार देते हैं, फिर हमें आप क्यों ठुकरा रहे हैं ? हमारे लिये आप इतने कठोर क्यों बन

रहे हैं ? हम लक्ष्मीजी की भाँति कोई अनधिकार चेष्टा तो कर ही नहीं रही हैं। जो चरण समस्त भक्तजनों द्वारा सेवित हैं, जिन पर सर्व साधारण का अधिकार है, हम उन्हीं चरणों की रज की इच्छुका हैं। हम यहाँ पर वन देखने, ध्यान करने, शारदीय सुषमा का अवलोकन करने घरबार छोड़कर नहीं आयीं हैं। हमारा एकमात्र हेतु आपकी सेवा करना ही है। हमें आप सेवा का सुअवसर दें, सेविका समझकर अपनावें, शिष्टाचार की बातें कहकर, कुशल प्रश्न और क्षमा याचना ऊपरी बातें करके ही हमें ठुकरावें नहीं, टरकावें नहीं। अपने चरणों की सन्निधि में रहने दें।

अच्छा देखिये। इसमें हमारा अपराध क्या है। हम तो गृहस्थी के जंजाल में फँसी ही थीं। आपने हमें दर्शन क्यों दिये ? "आप कहोगे, तुम इतने लोगों के दर्शन करती हो सबसे स्नेह क्यों नहीं करतीं ?" तो और सब लोग तो सज्जन होते हैं। तुम तो चोर शिखामणि निकले। तुमने अपनी मन्द-मन्द मनोहर मुसकान से तथा चारु चितवन से हमारे चित्त को चुरा लिया है। तुमने अपने अनुराग भरे अवलोकन से कामबाण मारकर हमारे हृदय में दाह उत्पन्न कर दी है, हमारा हृदय काम सन्तप्त हो रहा है। यदि आप दया करके हमें अपनी दासी बना लें, सेविका समझकर अपनालें, तो यह दाह शान्त हो जाय। वेदना निर्मूल हो जाय। तुम तो हमें अधर में लटकाये हुए हो। न मारते ही हो न जिलाते ही हो।"

भगवान् यह सुनकर हँस पड़े और बोले—"गोपियो ! मेरे पास ऐसी कौन-सी वस्तु है, जिसके लोभ से तुम ऐसी पगली-सी बन गई हो। अरी, मैं तो एक निर्धन सीदा-सादा गोप-कुमार हूँ।"

गोपिकायें बोलीं—"तुम्हें सीदा-सादा कौन कहता है, तुम तो

तो स्त्रियाँ यदि अपनी आर्य मर्यादा से विचलित हो जायँ, तो इसमें आश्चर्य की कौन-सी बात है ?

हम बात को अधिक बढ़ाना नहीं चाहतीं। बोलने की हममें शक्ति भी नहीं, योग्यता भी नहीं। संसार में निर्बलों की रक्षा सदा सबल करते हैं। देवताओं पर जब दुःख पड़ता है, तो दयासागर विष्णु अपने चक्रसुदर्शन से उनकी रक्षा करते हैं। प्रजा पर आपत्ति विपत्ति आती है तो अपने अस्त्र-शस्त्रों से राजा उनकी रक्षा करते हैं। ब्रजमण्डल पर जब-जब विपत्ति आई, तब-तब आपने उन सबसे उसकी रक्षा की। गोप गोपियों के दुःखों को दूर किया। अब हमारे ही लिये इतने निष्ठुर क्यों बन गये हो? काम के द्वारा पीड़िता हम दासियों की भी आप रक्षा करो। हमारे वक्षःस्थल में एक प्रकार की दाह हो रही है। घिसकर चन्दन लगाया, वह तुरन्त सूख गया। खस का सार लगाया उससे दाह और बढ़ी, सिवार को पीसकर रखा, कमल की जड़ भी लगायी किन्तु दाह मिटती नहीं। आप अपने सुखद शीतल कोमल कर कमल को हमारे वक्षःस्थल पर कुछ देर को रख दें। इस कमल की शीतलता से वह अवश्य ही शीतल हो जायगा। संसार को अभय प्रदान करने वाले अपने वरदहस्त को आप हमारे सिरों पर रख दें। इससे हमारे सिर की पीड़ा शान्त हो जायगी। श्याम-सुन्दर ! इतने निष्ठुर क्यों बन गये हो ? शरण में आयी हुई हम अबलाओं के साथ एकान्त में ऐसा अनाचार अत्याचार क्यों कर रहे हो ? अच्युत ! हमें अपनाते क्यों नहीं ? यदि हम विशुद्धा नहीं हैं, तो तुम तो विशुद्ध हो। सुनते हैं, भृङ्गी कीट को अपना-सा बना लेता है। तुम भी तो भृङ्गी के समान काले हो। अपनी शक्ति से हमें भी अपने अनुरूप बना लो, तुम कहो कि 'तुम तो दूसरे की हो तो दूसरा तुम्हारे अतिरिक्त कौन है ? तुम ही तुम तो हो, हमें दूसरों की न मानकर अपनी बना लो। प्रथम तो

अपनाना यही तो परमेश्वर का काम है। हम प्रपन्न हैं, आपकी शरण में हैं। हमारी सेवा स्वीकार करो।"

सूतजी कहते हैं–"मुनियो! अनुनय विनय की भी पराकाष्ठा होती है। गोपियों को अत्यन्त विह्वल देखकर कठोर कृष्ण का भी हृदय पसीज गया। अब उन्होंने जैसे प्रेम स्वीकृति प्रदान की उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

जा दिनतें अति मृदुल परमपद हमने परसे।
ता दिनतें अनुराग हृदय सर सरसिज सरसे॥
चरनकमलरज चहहिँ किंकरी करि अपनाओ।
दीनबन्धु दुखदलन दया करि हृदय लगाओ॥
बाहु कण्ठ को हार करि, करसरोज सिरपै धरो।
वक्षःस्थल पदकमल धरि, हृदयताप गिरधर हरो॥

स्वीकृति

[६७०]

इति विक्लवितं तासां श्रुत्वा योगेश्वरेश्वरः।
प्रहस्य सदयं गोपीरात्मारामोऽप्यरीरमत् ॥*

(श्रीभा० १० स्क० २९ अ० ४२ श्लोक)

छप्पय

ब्रजवनितनिकी बिनय बिहारी सुनि हरषाये।
प्रेम अलौकिक जानि नयन हरिके भरि आये॥
योगेश्वर मुसकाय कह्यो हौं रमण करूँगो।
चिरदिन को सन्ताप सबनिको आज हरूँगो॥
यों कहि गोपिनि मध्यमहँ, उडुगन सम शोभित भये।
श्याम परसतैं सबनिके, चन्द्रवदन विकसित भये॥

खेल सभी को प्यारा लगता है, संसार क्रीड़ामय है। खेल होता है खेल की सामग्री से, दो चार साथियों से, संसार में ध्यान देकर देखो सब खेल रहे हैं। बालक का तो प्रत्यक्ष खेल ही आहार है। वह तो निरन्तर क्रीड़ा ही करता रहता है। अन्तर इतना ही है, कि खेल की सामग्रियों में परिवर्तन हो जाता है

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"हे राजन् ! योगेश्वरों के भी ईश्वर भगवान् ब्रजवल्लभ ब्रजाङ्गनाओं की ऐसी विह्वलतापूर्ण बातें सुनकर दयापूर्वक मुस्कराये। फिर उन्होंने आत्माराम होकर भी उनके साथ रमण किया।"

बालकपन में भौंरा, चकई, खिलौना, झुनझुना तथा अन्य मिट्टी धातु के बने खिलौने से खेलते हैं, कुछ बड़े होने पर वह खेल लेखनी कागद पुस्तकों तथा अन्य व्यवसाय की वस्तुओं से हो जाता है। फिर युवावस्था में एक दूसरी ही क्रीड़ा आरम्भ होती है। कोई स्त्री पुरुष परस्पर में रहस्यमयी दृष्टि से–कनखियों में–देखा करें और कोई ताड़ने वाले उनके भाव को ताड़ जायँ, तो वे यही कहते हैं—"अजी, उनमें तो 'प्रणय क्रीड़ा' होने लगी है।" वह इसलिये होती है कि प्राणी क्रीड़ा के बिना रह नहीं सकता। कैसा भी गम्भीर पुरुष हो, एकान्त में जब अपने बाल-बच्चों से मिलता है तो बालकों में बालक बन जाता है, तुतलाकर उन्हीं के समान बोलता है। उनका घोड़ा बनता है। बहुत-से आचार्य साधु-सन्तों को देखते हैं। वे अपने आसन पर दर्शकों के सामने ऐसे गुम्म बने बैठे रहते हैं, मानों पाषाण की प्रतिमा हों, किन्तु जब वे एकान्त में अपने साथियों से मिलते हैं, तो कितने हँसते हैं, विनोद करते हैं, गप्प-सप्प लगाते हैं। कोई अंतरङ्ग भक्त पूछता है। 'यह क्या महाराज ?' तब कह देते हैं—"ये हमारे बालसखा हैं, खेल कर रहे हैं।' वे इस बात को भूल जाते हैं कि अब तक जो सिंहासन पर तुम बैठे थे। वह भी खेल ही था। यह सब खेल-माल है। जीव क्रीड़ा प्रिय है। खेल सबके साथ नहीं होता। जिससे आत्मीयता होती है उसी के साथ खुलकर खेला जाता है। यों अन्यों के साथ शिष्टाचार बरता जाता है। शिष्टाचार भी एक खेल ही है, नाटक ही है। इसमें भी जीव को आनन्द आता है। नाटक अभिनय में सबकी रुचि क्यों होती है। उसमें प्रत्यक्ष खेल है। साधुओं को हम नित्य देखते हैं। हमें कुतूहल नहीं होता, नाटक में जब साधुओं को देखते हैं, तो कुतूहल होता है। क्योंकि वह नाटक का साध है। खेल दो प्रकार के होते हैं। एक सुखान्त दूसरा

करुणापूर्ण खेल दुःखान्त होते हैं। मिलन, हास्य तथा शृङ्गारादि पूर्ण खेल सुखान्त। किन्तु सुखान्त दुखान्त दोनों से ही सुख होता है। सुख न होता तो श्रीरामचन्द्र, पांडव, द्रौपदी आदि की दुःख की कथायें बार-बार क्यों सुनी जातीं। उस रोदन में भी सुख है। सारांश यह है कि जीव क्रीड़ाप्रिय है। वह नित्य नूतन क्रीड़ा चाहता है। भगवान् भी क्रीड़ाप्रिय हैं। वे अकेले हैं। अकेले तो खेल होता नहीं अतः वे अपने आत्मा में ही रमण करते हैं। स्वयं ही अपनी मोहिनी माया से क्रीड़ा करते हैं। इसी लिये वेद उपनिषदों में उन्हें 'आत्मक्रीड़' आत्मरति के नाम से कहा गया है। खेल कहो, क्रीड़ा कहो, रति कहो सब एक ही बात है। खेल में सब उचित अनुचित बातों का समावेश हो जाता है। कोई अच्छे प्रतिष्ठित साधु सन्त हैं, उनसे कोई ऐसा-वैसा लोक विरुद्ध व्यवहार हो जाता है, तो उनके भक्तगण यह कहकर बात को टाल-मटोल कर देते हैं—"अजी यह तो महाराज का खेल मात्र है।" अर्थात् खेल में सब कुछ हो जाता है। जहाँ छोटे बड़े पन का, उचित अनुचित का विचार होता है वहाँ प्रेम खेल न होकर शिष्टाचार का खेल होता है।

खेल, क्रीड़ा अथवा रति में पहले इच्छा होती है। उसी का नाम है पूर्वानुराग। पूर्वानुराग में जिनके साथ क्रीड़ा करनी होती है. उनसे मिलने की इच्छा प्रबल हो जाती है। पूर्वानुराग के अनन्तर होता है मिलन। मिलन में पूर्वानुराग की अपेक्षा अधिक आनन्द आता है। फिर होती है विरह, विरह में होता है संताप, वह संताप ही सर्वश्रेष्ठ सुख है। जैसे सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि ये युग तो चार ही हैं, किन्तु सत्ययुग बीतते ही सहसा त्रेतायुग नहीं आ जाता है। बीच में कुछ समय होता है। जिसे न सत्ययुग का समय कहते हैं न त्रेता का। उसका नाम है सन्धि सन्ध्यांश काल। इसी प्रकार पूर्वानुराग और मिलन के बीच का

एक समय होता है उसे 'रत्योद्बोधक' कह सकते हैं। उसमें प्रेम की अभिवृद्धि करनी होती है। जैसे हमें बच्चे के साथ खेलना है। खेलने को इच्छा करना यह पूर्वानुराग है। बच्चा सामने आ गया तो यह मिलन हुआ। किन्तु वास्तविक मिलन अभी कहाँ। हमने गोद में लेने को अपने हाथ उठाये। बच्चा थोड़ी देर देखता रहा। फिर झट भाग गया कुछ दूर जाकर सिर हिलाता रहा। हँसता रहा, सैंन मटकाता रहा। हम उससे कहते हैं। "आओ आओ!" वह आता नहीं सिर हिलाता है। गोदी में आने की उसकी इच्छा न हो सो बात नहीं। वह भी गोदी में आना चाहता है। किन्तु वह प्रेम को और बढ़ा रहा है, मचल-कर रति का उद्बोधन कर रहा है। हम उसे भाँति-भाँति के प्रलोभन देते हैं। अन्त में वह या तो हाथ उठाकर या किसी दूसरी प्रकार से स्वीकृति देता है। तो हम उसे कसकर छाती से चिपटा लेते हैं। उसके मुख में अपना मुख सटा देते हैं। इसका नाम है मिलन। जहाँ तक द्वैत है तहाँ तक सच्चा मिलन नहीं व्यभिचार है। एकत्व होना ही मिलन है। मिलन में स्वीकृति आवश्यक है। मिलने के पश्चात् होती है क्रीड़ा। बच्चे को हृदय से लगाकर फिर उससे क्रीड़ा करते हैं। उसकी बगल में गुल-गुली करके उसे हँसाते हैं। आटे बाटे दही चटाखे बर फूले, बन वारी फूले, बारहमास करेला फूले आदि व्यर्थ की बातें करके उसके कुतूहल को बढ़ाते हैं। बार-बार उसका आलिंगन करते हैं। कोई मिठाई या अन्य वस्तु उसके मुख में डालते हैं। वह भी अपने छोटे-छोटे हाथों से हमारे मुख में डालता है, तो डालते समय हम उसके हाथों को ओठों से या दाँतों से दबा लेते हैं। उसके कान में 'कुरु' करके उसे हँसाते हैं। उसके बालों में उँगली डालकर उन्हें सुहलाते हैं। गोदी में लेकर ऊपर उछाल देते हैं। गेंद की भाँति फिर उसे लेते हैं। उसे पकड़कर घुमाते

हैं। इस प्रकार अनेक प्रकार की क्रीड़ा करते हैं। इसमें बालक को भी अत्यधिक सुख होता है और खेलने वाला भी आत्मविभोर हो जाता है। उस समय उसका सब शोक संताप शान्त हो जाता है। खेल में आत्मविस्मृत हो जाता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! मैं गोपियों के पूर्वानुराग की दशा तो वेणुगीत आदि प्रसंग में वर्णन कर ही चुका हूँ। अब मैं मिलन प्रसंग का ही वर्णन कर रहा हूँ। मोहन की मुरली की मधुरमनोहर तान सुनकर व्रजांगनायें अपने गृहकार्यों को परित्याग करके श्यामसुन्दर के समीप आयीं। वे उनके अंक में आसीन होकर क्रीड़ा करने को समुत्सुक थीं। श्रीकृष्ण के समीप आ गयी हैं। नेत्रों से नेत्र मिल गये। किंतु नयनों का मिलना ही यथार्थ मिलना नहीं, हृदय-से-हृदय मिलने का ही नाम मिलन है। यद्यपि किसी-किसी ने नयनों के मिलन को ही नीक बताया है, किंतु वह उपालंभ मात्र है। व्यंग है, नेनों का मिलन पूर्वानुराग की अभिवृद्धि करता है, वह मिलन नहीं। श्रीकृष्ण मिलना न चाहते हों, सो बात नहीं। ताली एक हाथ से थोड़े ही बजती है। गोपिकाओं की मिलने की उत्कट इच्छा थी, किन्तु श्रीकृष्ण ने मिलन की स्वीकृति प्रदान नहीं की। अपनी अनुरक्तभक्ता गोपियों को मिलने की श्यामसुन्दर ने स्वीकृति प्रदान क्यों नहीं की जी ?" अब तुम्हें बार-बार तो बता चुके भाई ! सहसा कोई वस्तु प्राप्त हो जाती है तो उसकी प्राप्ति में उतना सुख नहीं होता, जो अत्यन्त उत्कण्ठा के साथ, चिरकाल की प्रतीक्षा के साथ प्राप्त की हुई वस्तु की प्राप्ति में सुख होता है। बिना भूख के जो पेट में चटपटी चटनी की सहायता से भोजन ठूँसा जाता है, उसमें उतना रस नहीं, स्वाद नहीं, तुष्टि पुष्टि नहीं। भूख जितनी ही उत्कट होगी, भोजनों में उतना ही अधिक स्वाद आवेगा। गोपिकाओं की मिलने की इच्छा उत्कट तो थी उसे

अत्युत्कट बनाने को ही भगवान् ऊपर से सिर हिलाते रहे, निस्पृह बाबाजी बने रहे। जब उन्होंने देखा इनकी अभिलाषा अत्युत्कट हो गयी है, तब कठोरहृदय कृष्ण के भी हृदय में दया का संचार हुआ। उन व्रजांगनाओं की दीनता, विनय और विवशता से पाषण भी द्रवीभूत हो गया। आत्माराम होकर भी उन गोपियों के साथ भगवान् ने रमण किया।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! व्रजवल्लभ नन्दनन्दन तो आत्माराम तथा आप्तकाम हैं, वे तो अपनी आत्मा में ही नित्य रमण करते रहते हैं, वे तो नित्य तृप्त हैं, आप्तकाम को क्या स्पृहा? जो आत्मतुष्ट हैं, उन्हें गोपियों के साथ रमण करने की क्या आवश्यकता थी? श्रीकृष्ण तो अकेले थे, गोपिकायें असंख्य थीं, अकेले ने उन सबके साथ कैसे रमण किया?"

इस पर सूतजी बोले—"भगवन्! पहिले आप व्रज, आत्माराम तथा आप्तकाम का अर्थ समझ लें। 'व्रज' शब्द का अर्थ है व्याप्ति। व्यापक होने के कारण ही नन्दनन्दन की क्रीड़ा भूमि का नाम 'व्रज' पड़ता है। वह व्यापक त्रिगुणातीत है। क्योंकि वही तो तीनों गुणों में व्याप्त है। सबका अधिष्ठान वही एकमात्र है। इसलिये सर्वव्यापक परब्रह्म का भी नाम परिपूर्ण और व्याप्त होने के कारण 'व्रज' कहा गया है। वह सदानन्द स्वरूप, परमज्योतिर्मय और अविनाशी है। जो व्रज साक्षात् परब्रह्म स्वरूप है उसमें नन्दनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण का नित्य निवास है। वह उनका स्वरूप ही है, इसलिये नन्दनन्दन का नाम व्रजवल्लभ कहा है। उन व्रजवल्लभ का अनुभव, सत्तू खाकर भूख शान्त करने वाले दुर्बल शुष्क प्रकृति के पुरुष नहीं कर सकते। रसीले सुस्वादु तरमाल उड़ाने वाले, रसगुल्ला की भाँति भीतर-बाहर से प्रेमरस में पगे हुए प्रेमी रसिक जन ही रसिक-शेखर के मधुर रस का अनुभव कर सकते हैं।"

अब इस पर विचार करना है, कि भगवान् को आत्माराम और आप्तकाम क्यों कहा। नन्दनन्दन श्रीकृष्णचन्द्र की आत्मा हैं, श्रीराधिकाजी। भगवान् उनके साथ नित्य रमण करते रहते हैं, दोनों ओर से प्रेम का समुद्र उमड़ता रहता है। नित्य नव-नव प्रेम की अभिवृद्धि होती है। निरन्तर मिले रहने पर भी दोनों ओर से सदा यही अनुभव होता है। मानों हम पहिले कभी मिले ही नहीं, अभी मिल रहे हैं। इस प्रकार रमण करने से वे आत्माराम कहलाते हैं।

अच्छा, फिर आप्तकाम का क्या अर्थ? कामना कहते हैं इच्छा को, इच्छित वस्तु को प्राप्त करने की अभिलाषा का ही नाम काम है। व्रज में रहकर भगवान् की कामना क्या है? गौओं का पालन-पोषण करना, ग्वालवालों के साथ क्रीड़ा करना, गोपियों के साथ मधुर रस की खिलवाड़ करना, तथा सरसलीला विहार करना। ये सब भगवान् को व्रज में पूर्णमात्रा में प्राप्त है। इसीलिये उनका नाम 'आप्तकाम' है। इस लीला के रहस्य को प्राकृत पुरुष उनकी कृपा के बिना अनुभव नहीं कर सकते। क्योंकि ये तो प्रकृति से परे की बातें हैं। हाँ, जब भगवान् प्रकट रूप में अवतार लेते हैं, तो उसका अनुभव प्राकृत पुरुष भी कुछ कर सकते हैं। कुछ इसलिये कहा कि भगवान् की अवतार-लीलायें भी दो प्रकार की होती हैं। एक वास्तवी दूसरी व्यावहारिकी। वास्तवी लीला तो स्वसंवेद्य है। उसका अनुभव तो स्वयं भगवान् और उनके परमरसिक अनन्योपासक भक्तजन ही कर सकते हैं। व्यावहारिकी लीला तो बिना प्रकृति को साथ लिये बनती नहीं, इसलिये प्रकृति के साथ होने से प्राकृत पुरुष उसे देखते हैं, किन्तु यह वास्तवी लीला से सर्वथा भिन्न है। यह तो हुई आत्माराम और आप्तकाम की व्याख्या।

अब आपने शंका की, कि एक श्रीकृष्ण ने असंख्यों गोपियों के

साथ रमण कैसे किया। सो इसका भी उत्तर सुनिये। योगी अपनी इच्छा से अनेक रूप रख सकता है। सभी जानते हैं महर्षि सौभरि ने योगबल से पचास रूप रखकर महाराज मान्धाता की पचास कन्याओं के साथ रमण किया। योगी को योग प्रभाव से सभी सामर्थ्य प्राप्त होती हैं। समस्त योगों के ईश्वर शिवजी हैं। इसीलिये उन्हें योगेश्वर कहते हैं। उन शिवजी के भी जो ईश्वर हैं। उन योगेश्वरेश्वर श्रीकृष्णचन्द्र के लिये उतने रूप रख लेना यह कौन-सी आश्चर्य की बात है? सभी गोपियों ने यही अनुभव किया कि श्यामसुन्दर हमारी ही ओर बाहु फैला-कर हमें ही आलिंगन दान देने को उत्सुक हो रहे हैं।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! हाँ हमारी शंका का समा-धान हो गया। अब आगे की कथा कहिये। आगे क्या हुआ?"

हँसकर सूतजी बोले—"महाराज, अब आगे की कथा कहने की सामर्थ्य है ही नहीं। आगे हुआ क्या अब जो करने को शेष था, वही हुआ। रमण हुआ, रासविलास हुआ। उसका वर्णन मैं इतनी लम्बी दाढ़ी से कैसे करूँ। वहाँ तो बिना दाढ़ी मूछों वालियों का प्रवेश है। न श्रीकृष्ण के ही दाढ़ी मूछें थीं, न एक भी गोपी के दाढ़ी मोंछें थीं। सब सफाचट थीं, सबके सिर पर काले-काले घुँघराले बाल थे। सफेद बालों के तो वहाँ दर्शन ही नहीं थे। मेरी भूरी-भूरी दाढ़ी को कोई वहाँ की गोपी देख ले, तो डरकर भाग जाय, यह किस लोक का जन्तु आ गया। सो प्रभो! रासविलास का वर्णन मेरी शक्ति के बाहर है, सामर्थ्य के परे की बात है। इसका वर्णन मैं नहीं कर सकता, नहीं कर सकता, आप मुझसे आग्रह न करें। आगे की कथा मैं कहता हूँ।"

नम्रता के साथ शौनकजी ने कहा—"नहीं सूतजी! ऐसी कोई बात नहीं है। भगवान् की समस्त लीलाओं का यथार्थ

वर्णन तो ब्रह्माजी भी नहीं कर सकते। फिर अन्य लोगों की तो बात ही क्या ? गंगाजी के समस्त जल को पात्र में भरकर कौन ले जा सकता है। फिर भी पात्र में भरकर ले जाते हैं, तो सब कहते हैं, हम गंगाजी लाये हैं। क्या अनन्त आकाश का पार पक्षी पा सकता है। फिर भी वह अपनी सामर्थ्य के अनुसार उड़ता है। आप जूआ न डालें, रासलीला का वर्णन अवश्य करें, कहीं आप भी तो बालकों की भाँति खिलवाड़ नहीं कर रहे हैं ? कहीं ना-ना, कहकर आप भी हमारी अभिलाषा को तो बढ़ा नहीं रहे हैं ? महाभाग ! हम तो पहिले से ही इस प्रसंग को सुनने को अत्यन्त उत्सुक हैं।"

यह सुनकर हँसकर सूतजी बोले—"अजी, महाराज ! यह बात नहीं। सचमुच यह विषय बड़ा गम्भीर है। मुझ जैसे विषयी को इसे कहने का अधिकार भी नहीं है। फिर भी जब आप आज्ञा दे रहे हैं, इतना आग्रह कर रहे हैं, तो आपकी आज्ञा पालन करूँगा ही, यथामति यथाशक्ति मैं इसका वर्णन करूँगा ही। अब आप सब समाहित चित्त से इस पुण्य प्रसंग को श्रवण करें।"

छप्पय

बाहुपासमहँ जकरि फिरैं वन रतिपति सम हरि।
ज्यों हरिनिनि सँग हरिन करिनि सँग मदमातो करि॥
कृष्ण कीरतन करति कंठ कल सब मिलि गावें।
नटवर वेनु बजाइ तालमहँ ताल मिलावें॥
वन वन विचरत सखिनि सँग, आये गिरधर पुलिन महँ।
यमुनातट शीतल सुखद, सरस बालुका रम्य जहँ॥

आत्माराम का रमण

[६७१]

बाहुप्रसारपरिरम्भकरालकोरु-
नीवीस्तनालभननर्मनखाग्रपातैः ।
क्ष्वेल्यावलोकहसितैर्व्रजसुन्दरीणामु-
त्तम्भयन् रतिपतिं रमयाञ्चकार ॥*

(श्रीभा० १० स्क० २९ अ० ४६ श्लोक)

छप्पय

चंचल तरल तरंग संग शीतल मलयानिल ।
कुसुम कुमुदिनी गंध पवन सँग खेले हिलमिल ॥
तहँ रासेश्वर आइ रमण रमणिनि सँग कीन्हों ।
काम कलातैं सबनि अलौकिक सुख अति दीन्हों ॥
तनु पुलकित हुलसित हृदय, हँसहिँ हाथ फैलाइकें ।
मिलहिँ परस्पर प्रेमतैं, मरमामें चौंकाइकें ॥

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"हे राजन् ! भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र व्रजांगनाओं के कामरस को उद्दीप्त करने के निमित्त विविध चेष्टायें करने लगे । जैसे आलिंगन के लिये बाहुओं को पसारना, हृदय से सटा लेना, करों को, केशों को, कटिवस्त्र बन्धन को, ऊरुओं को तथा स्तनों को छूना, हँसी करना, नखक्षत करना, विनोद पूर्ण चितवन से अवलोकन करना तथा मुस्काना । इस प्रकार उन्हें सुख देते हुए क्रीडा करने लगे ।"

जो बात अनुभव की है, रहस्यमय है उसका वर्णन भाषा में हो ही नहीं सकता। कुछ रूढ़ि रहस्यमय शब्द होते हैं, जो उसी विषय में व्यवहृत होते हैं। उसका अर्थ परम्परा से ही समझा जाता है। जैसे 'पिंड' शब्द है। कोई कहे 'हमें पितरों के पिंड करने हैं।' हमारे यहाँ का छोटे से छोटा बच्चा इसका अर्थ समझ जायगा। किन्तु जिन देशों के लोग पुनर्जन्म के सिद्धान्त को नहीं मानते। जहाँ श्राद्ध तर्पण होता ही नहीं उन्हें पिंड का अर्थ समझाओ, उनसे कहो–'आटे का गोला' आटे की गेंद। मरे हुए पितरों को दिया जानेवाला सना आटा। 'तो इन सबका वे कुछ भी भाव नहीं समझ सकते। उपनिषदों में बहुत-से यन्त्र हैं, जिनकी परम्परा नष्ट हो गयी है। अब उन्हें कोई बनाना चाहे, तो नहीं बना सकता। क्योंकि उनमें जो प्रचलित शब्द बताये गये हैं, उनका स्वरूप हम नहीं जानते। आज सर्वतो-भद्रचक्र बनाने को कहें, तो छोटे से छोटा कर्मकाण्डी बिना श्रम के बना देगा, लिखकर समझावें तो समझ नहीं सकते। इसी प्रकार मुद्राओं की बात है। जिन्होंने परम्परा से मुद्राओं को सीखा है वे शीघ्रता से मुद्राओं को सिखा देंगे, किन्तु पढ़कर ही कोई मुद्रा बनाना सीखना चाहे, तो वह अत्यन्त कठिन है। इसी प्रकार गोपियों के साथ किया हुआ भगवान् आनन्दकन्द का रमण यह वाणी और लेखनी के परे का विषय है, बिना गोपी भाव भावित हुए प्राणी उसका अनुभव कर नहीं सकता। अतः यह कहने का विषय नहीं और सुनने का भी नहीं, अनेकों जन्मों की साधना के अनन्तर इस विषय को अनुभव करने की योग्यता प्राप्त होती है। यह हम बार-बार बता चुके हैं, गोपी न स्त्री हैं, न पुरुष और न नपुंसक, यह एक भाव है जो लिंगाभिमानी की परे की वस्तु है। फिर भी लोकलीला के निमित्त गोपियों का स्त्री वेष है, श्यामसुन्दर का

पुरुष। स्त्री पुरुषों में जो परस्पर में प्रेम की क्रीड़ायें होती हैं, वे ही गोपियों और श्रीकृष्ण के बीच में होती हैं। अतः इस उपासना का अधिकार स्त्री जाति को ही विशेष है, क्योंकि वे लोक में पति से प्रेम कर चुकी हैं। उसे ही उन्हें भगवान् में मोड़ना है। जिसने कभी किसी से प्रेम किया ही नहीं, वह भगवान् से प्रेम कर ही नहीं सकता। जिस खेत में आक, धतूरा, एरण्ड, करील, बबूर ये उत्पन्न होते हैं, उसमें संभावना हो सकती है, गेहूँ भी पैदा हो जायँगे, किन्तु जो सर्वथा ऊसर भूमि है। जिसमें कुछ पैदा होता ही नहीं, उसमें क्या संभावना की जा सकती है। 'किसी सन्त के समीप कोई जिज्ञासु गया, कि मुझे प्रेम मार्ग की दीक्षा दे दो।'

सन्त ने पूछा—"संसार में तुमने आज तक किसी से प्रेम किया है?"

उसने कहा—"नहीं, महाराज! मैंने तो किसी से भी प्रेम नहीं किया।"

संत ने कहा—"तो जाओ, पहिले संसार में किसी से प्रेम करना सीखो। पहिले पट्टीपर लिखना सीखो। हाथ सधने पर फिर कागद पर लिख सकोगे।" सारांश यह कि संसारी प्रेम प्रेममहाविद्यालय का प्राथमिक पाठ है। यह संसार आरंभिक पाठशाला है। पहले हमारे यहाँ नेत्रों के चिकित्सक आँखें बनाने की शिक्षा इस प्रकार से देते थे, कि किसी जल के पात्र में नीबू का समूचा फल डालकर विद्यार्थी से कहते-इसमें ऐसे सुई मारो जिससे फल में तो सुई चुभ जाय, किन्तु जल न हिले।" यहाँ फल में सुई मरवाने से तात्पर्य केवल आँखों में सुई डालने के अभ्यास से है। हाथ इतना हलका हो जाय, कि आँखों की चीर फाड़ में कोई अनर्थ न हो। जो बिना शिक्षा के अनाधिकार चेष्टा करते हैं, वे सफल [illegible] होते।

प्रेमसाधना अनुभव की वस्तु है, सभी इसके कहने सुनने के अधिकारी नहीं होते। इसीलिये मुनियों ने इस विषय को बहुत ही गुप्त रखा है। इसका जहाँ भी वर्णन किया है, बड़े रहस्यमय ढँग से किया है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो। आप मुझे आज्ञा तो दे रहे हैं, कि मैं भगवान् के गोपियों के साथ किये हुए रमण का वर्णन करूँ, किन्तु सच्ची बात तो यह है, मेरा साहस नहीं हो रहा है। महाभागो! गूँगा गुड़ खाकर भी उसका स्वाद वर्णन नहीं कर सकता। किसी से भी पूछो—"नवनीत में कैसा स्वाद है?" तो अच्छा है, इसके अतिरिक्त वह क्या कह सकेगा। इसीलिये मेरे गुरुदेव भगवान् शुक ने इस विषय का वर्णन अत्यन्त संक्षेप में संकेत के साथ किया है। उन्हीं के पदों का अनुसरण करके मैं कुछ कहूँगा। परन्तु मैं इसमें सफल न हो सकूँगा, क्योंकि मुझमें इतनी योग्यता नहीं है।

हाँ तो भगवान् की स्वीकृति मिलने पर उन व्रजांगनाओं के मुखकमल खिल उठे। वे प्रफुल्लवदन वाली बालायें अपने कमनीय कटाक्षों से कोटि कँदर्पों के दर्प को दलन करने वाले श्रीकृष्ण की ओर अनुराग भरी दृष्टि से निहारने लगीं। मदन-मोहन अपनी मनहरन मुसकान और कुन्दकली समान दाँतों की कमनीय कान्ति से उन व्रजवल्लभियों से घिरे ऐसे सुशोभित हुए मानों तारामंडल से घिरे हुए चन्द्रमा सुशोभित हो रहे हों।

भगवान् उन व्रजांगनाओं के कंठ में गलवैयाँ डाले रति-पति के सदृश प्रतीत हो रहे थे। वे वैजयन्तीमाला को धारण किये हुए उन सबके संग यूथपति के सदृश इधर से उधर वन में विचरण कर रहे थे। वे कृष्णप्रिया कामिनी अपने कोकिल कूजित कमनीय कंठों से कृष्ण की कलित कीर्ति का गान कर रहीं

थीं। श्रीकृष्ण भी उनके स्वर में स्वर और लय में लय मिलाकर उनके गाने का अनुकरण कर रहे थे। उनकी ताल में ताल मिलाकर स्वयं भी गा रहे थे। अपने सुखद संस्पर्श के साथ उन्हें वन की शोभा दिखा रहे थे। व्रजांगनाओं के अनुराग की अनुक्षण अभिवृद्धि हो रही थी। अतः विचरण के अनन्तर रमण की अभिलाषा अत्युत्कट हो रही थी, उसकी पूर्ति के हेतु यशोदानन्दन यमुनाजी के पावन पुलिन के सन्निकट आये। वहाँ की बालुका सरस थी, सुन्दर थी, स्वच्छ थी, कोमल और गुदगुदी थी। मानों किसी ने अति मृदुल शैया पर अति सुखद आस्तरण बिछा दिये हों। वहाँ जितनी गोपियाँ थीं, उतनी कुंजों का निर्माण नन्दनन्दन ने अपनी योगमाया के द्वारा किया, फिर प्रत्येक रमणी के साथ राधारमण ने रमण की अभिलाषा से निकुञ्ज में प्रवेश किया। उस समय का दृश्य अलौकिक था। काम का सखा मलयानिल कालिन्दी की उत्ताल तरङ्गों के संसर्ग से शीतल और परमसुखद बन रहा था। कुमुदिनी के कुसुमों की गन्ध से वह सुगन्धित बन रहा था और श्रीकृष्ण के भय से पैरों की पैछर बचाकर मन्द-मन्द गति से चल रहा था। उस अलौकिक आनन्दमय अवसर पर अच्युत ने अपनी अनन्योपासिका गोपिकाओं के संकल्प को पूर्ण किया। काम कला में परम प्रवीण प्राणपति प्रेष्ठ ने अपनी प्रियतमाओं की चिरकालीन अभिलाषा की पूर्ति की। बाहु प्रसार, परिरम्भ, कर, अलक, जघन, कटिपटबन्धन-मोक्षण, हृदय, स्पर्श, नर्म नखदन्तक्षत, चारु चितवन, मन्द मन्द मुस्कान तथा और भी जो कुछ हुआ करता है सब कुछ कर करा के उनके काम संतप्त हृदय को शान्त किया। उनको सुख दिया, उनके अधीन-से हो गये, दीनता-सी दिखाने लगे। बार-बार उनसे प्रणय की याचना करने लगे। अब तो उन गोपिकाओं का अभिमान बढ़ा। अब

तक जो भीगी बिल्ली-सी बनी म्याऊँ-म्याऊँ कर रही थीं, अब वे सिंहनी की भाँति गरजने लगीं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! मनुष्यों को अपनी पूर्व स्थिति स्मरण बनी रहे, तो न उसे कभी अभिमान हो और न भगवान् को भूले। पूर्व स्मृति को भूलकर ही जीव अपने को भगवान् से विलग समझने लगता है, अशान्त हो जाता है और फिर अपने सुखदाता सच्चिदानन्द की भीतर खोज न करके बाहर खोज करता है। किन्तु वे तो दूर नहीं पास ही हैं हृदय की कोठरी में छिपे हैं। वहाँ न खोजकर बाहर खोजता है। ये सब अनर्थ अभिमान से होते हैं। गोपियों के मन में जब अभिमान आ गया, तो भगवान् ने सोचा—"अरे, यह दूसरे किस जार ने इनके हृदय पर आकर अधिकार जमा लिया। उस जार को नाश करने के लिये उसे मारने को भगवान् ने एक उपाय सोचा।"

छप्पय

कबहूँ बिनवें दीन होहिँ पुनि कबहूँ अकरें।
हिय, मुख, कर, कटि, केश करनितैं पुनिपुनि पकरें॥
करि-करि क्रीड़ा ललित प्रेमरसमाहिँ भिगोई।
कुसुम कली सम सकल सरसतामाहिँ डुबोईं॥
जगपति परबश-से भये, करी तृत अति सुख दयो।
पाइ मान अति श्यामतें, मान सबनि हियमहँ भयो॥

—:—

अन्तर्धान

[६७२]

तासां तत् सौभगमदं वीक्ष्य मानं च केशवः ।
प्रशमाय प्रसादाय तत्रैवान्तरधीयत ॥*

(श्री भा० १० स्क० २९ अ० ४८ श्लो०)

छप्पय

जिहि हियमहँ मनहरन मान तहँ रिपु दुति आयो ।
समुझि गये घनश्याम दृश्य अति दुखद दिखायो ॥
करन कृपा मदहरन रमनतैं बिरत भये तब ।
अन्तर्धान सुजान भये बिलखैं गोपी सब ॥
पति बिनु नारी विकल ज्यों, हथिनी ज्यों बिनु यूथपति ।
त्यों व्याकुल गोपी भई, निरखि निकुञ्ज न प्रानपति ॥

लोक में जिन वस्तुओं को बुरा बताया जाता है, यदि वे ही भगवान् में लग जायँ, तो अच्छा हो जाती हैं। काम, क्रोध तथा भय आदि लोक में बुरे हैं, यदि वे भगवान् के प्रति हों, तो ये ही परमपद प्राप्ति के साधन बन जाते हैं। लोक में अभिमान करना, अपने सौभाग्यपर मद करना यह बुरी बात है। यही मान मद भगवान् के प्रति हो जाय, तो विरह उत्पन्न करता है, जिससे

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र यह देखकर कि इन्हें मान और सौभाग्यमद हो गया है, तो वे उसे करने तथा उनके ऊपर कृपा करने के निमित्त वहीं अन्तर्धान हो गये

हृदय द्रवीभूत होता है, अन्तःकरण विशुद्ध बनता है, जिससे मुसकाते हुए माधव सम्मुख प्रकट हो जाते हैं। लोक में भी देखा गया है, पति-पत्नी में जो प्रेम का मान होता है, वह प्रेम को और बढ़ाने के ही निमित्त होता है। भक्तिरस शास्त्रों में जो प्रेम के व्यभिचारी भाव बताये हैं। जैसे निर्वेद, विषाद, दैन्य, ग्लानि, श्रम, मद, गर्व शङ्का, त्रास, आवेग, उन्माद, अपस्मार, व्याधि, मोह, मृति, आलस्य, जाड्य, व्रीड़ा, अवहित्था, स्मृति, वितर्क, चिन्ता, मति, धृति, हर्ष, औत्सुक्य, उग्रता, अमर्ष, असूया, चापल, निद्रा, सुप्ति तथा बोध इनमें से अधिकांश लोक में निन्दित माने जाते हैं, किन्तु जब ये भक्ति सम्बन्ध से होते हैं, तो अति आदरणीय रस के पोषक माने जाते हैं। रस वृद्धि के ही लिये मान और मद गोपिकाओं के हृदय में उत्पन्न होते हैं। ऐसा न हो तो जिस तन मन में मनमोहन बसे हुए हैं, उसमें लौकिक मद मान का प्रवेश ही कैसे हो सकता है। मान मद का होना यह भी एक क्रीड़ा है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब व्रजांगनाओं का भगवान् ने अत्यधिक सम्मान किया, अपने हाथों उनके केशपाशों को सुलझाया, उनमें पुष्प मालायें गुम्फित कीं, उनके तिलक लगाया और भी सब प्रकार से उनका आदर किया, तो वे मानवती अपने को संसार में सम्पूर्ण स्त्रियों से श्रेष्ठ समझने लगीं। वे सोचने लगीं—"लोग जिनके दर्शन के लिये लालायित बने रहते हैं, सुन्दरी से सुन्दरी स्त्रियाँ जिनके तनिक से कृपा कटाक्ष के लिये कातर-सी व्याकुल-सी बनी रहती हैं। वे ही आज हमारी इस प्रकार सेवा कर रहे हैं, वे ही आज ऐसी दीनता दिखा रहे हैं।" भगवान् ने देखा, इनको तो अपने सौभाग्य का मद हो गया है। यह प्रेम में घातक है।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! मद क्या होता है?"

सूतजी ने कहा—"महाराज ! 'मद' की क्या व्याख्या की जाय, मद तो संसार में प्रसिद्ध ही है, सभी जानते हैं। अपने सौभाग्य पर कृतकृत्यता हो जाय, अहा हम कैसे सौभाग्यशाली हैं, इतने बड़े आदमी हमारे वश में हैं। इस प्रकार अपने रूप का, युवावस्था का, गुणों का, सर्वोत्तम आश्रय का, तथा इष्ट लाभ पर गर्व हो जाय, यही मद कहलाता है। गोपिकायें अपने सौभाग्य की भी सराहना करने लगीं और उन्हें अपने रूप यौवन का भी गर्व हो गया। सर्वोत्तम आश्रय पाकर तथा चिरभिलापित इष्ट को पाकर वे अपने को सर्वश्रेष्ठ गुणवती समझने लगीं। वैसे रस शास्त्रकारों ने मद में और गर्व में भेद किया है। मद तो यौवन के अधिक उफान में और मधुपान से होता है। उसमें विवेक नहीं रहता, हृदय में उल्लास अधिक होता है। वाणी स्खलित हो जाती है। कुछ का कुछ बकने लगता है। उसमें कोई हँसते गाते हैं, चिल्लाते हैं, गाली देते हैं तथा रोते पीटते हैं आदि। किन्तु यहाँ सौभाग्य मद से अभिप्राय गर्व से ही है। उन्हें मान भी हो गया। मान से यहाँ अभिप्राय प्रेम में जो मान होता है, वह नहीं। यहाँ मान से अभिप्राय है अभिमान से। भगवान् ने देखा, मेरी प्रियाओं के हृदय में मद और मान ने प्रवेश किया तो यह बात तो उचित नहीं है। इसे शान्त करना चाहिये। यदि अत्यन्त निर्धन को सहसा विपुल धनराशि मिल जाय और उसके कारण उसे अत्यधिक मद हो जाय, तो उसका एकमात्र यही उपाय है उसके धन को नष्ट कर देना चाहिये। नष्ट कहते हैं अदर्शन को। अतः भगवान् उन पर कृपा करने के लिये तथा मद मान को शान्त करने के लिये वहाँ के वहीं अन्तर्धान हो गये। गोपियाँ उनके कण्ठ में जो बाहु डाले हुए थीं, वह बाहु ज्यों की त्यों शून्य में शून्य-सी खड़ी ही रहीं। अपने समीप श्याम को न निहारकर उन सबका मान, उसी

कहा—"बेटी तनिक दही तो बिलो दे। मन तो मनमोहन की मूरति में मग्न है। माँ के कहने से शरीर के भार को अनिच्छापूर्वक उठाकर दधि मथने के स्थान पर लाडिलीजी आ गयीं। वहाँ दधि मथने को मथानी रखी थी, जिससे दही बिलोया जाता है वह रई रखी थी, उसमें रस्सी बँधी थी। अब करना यह था, कि खिड़की में जो जमा हुआ दही रखा है उसे मथने के पात्र में उड़ेलकर उसमें रई डालकर मथे। किन्तु श्रीकृष्ण की स्मृति में वे तो पगली हो रहीं थीं। खाली मथनी में रई डालकर उसे ही बिलोती रहीं। कुछ देर में माता आई और बोली—"राधा! तेरी मति तो नहीं मारी गयी है, तू पगली तो नहीं हो गयी है। बिना दही डाले खाली वर्तन में रई फिरा रही है।" राधाजी को अब सुधि आयी वे लज्जित हुईं। इसी का नाम है प्रौढ़ानन्दोन्माद। यह दोनों ही ओर से होता है। राधाजी की ही यह स्थिति हो, सो बात नहीं। कृष्ण भी राधाजी की स्मृति में ऐसे तन्मय हो जाते थे, कि गौओं को दुहना भी भूल जाते। एकान्त में बैठकर प्यारीजी के गोल-गोल सुन्दर मुख का चिन्तन करते रहते। मैया कहतीं—"अरे कनुआ! कैसे तू उदास हो रहा है, जा गौ दुह ला।"

माता के कहने से गौ दुहने जाते, किन्तु प्यारीजी के प्रेमोन्माद में इतने बेसुधि हैं, कि गौ के नीचे न बैठकर साँड़ को दुहने लगे। इतने में ही कोई सखा आ गया। उसने पूछा—"कनुआ! क्या कर रहा है?"

वहाँ बैठे ही बैठे आप बोले—"अरे, सारे! तेरी आँख फूट गयी है क्या? गौ दुह रहा हूँ।"

हँसकर गोप बोला—"मेरी तो आँख फूटी नहीं है। प्रतीत होता है तुझे किसी गोरे मुख ने उन्मादी बना दिया है। तू गौ दुह रहा है या साँड़ को दुह रहा है।" अब श्रीकृष्ण को सुधि

आयी, बात बनाते हुए कहा—"अरे, मैं तो साँड़ की कलीलियों को छुड़ा रहा हूँ, ये चिपटकर इसे काटतीं होंगी।" गोप मुस्कराता हुआ चला गया। यही दोनों ओर के प्रौढ़ानन्दोन्माद के लक्षण हैं।

आपत्तियों में भी उन्माद हो जाता है। आपत्ति में पड़कर लोग कंकड़ पत्थर को भी पूजने लगते हैं, जो न करने योग्य होता है, उसे करने लगते हैं, विरह में भी उन्माद होता है। गोपियों का यह उन्माद श्रीकृष्ण के विरह में हुआ था।"

शौनकजी ने पूछा—"हाँ, तो सूतजी ! अब आप हमें गोपियों के विरहोन्माद की ही दशा सुनाइये।',

सूतजी बोले—"मुनिवर ! गोपियों की श्रीकृष्ण के विरह में विचित्र दशा हो गयी। वे आनन्द में मग्न हुई श्रीकृष्ण के सम्मिलन सुख का आस्वादन कर रही थीं, कि सहसा श्यामसुन्दर वहीं अन्तर्धान हो गये। उस समय यूथपति के खो जाने पर जैसे हथिनियाँ व्याकुल हो जाती हैं, जैसे कालेमृग के चले जाने पर हरिणियाँ व्याकुल हो जाती हैं, वैसे ही वे सबकी सब व्याकुल हो गयीं। अब वे मन से ही भगवान् की चेष्टाओं का चिन्तन करने लगीं। श्यामसुन्दर कैसी ललित गति से विलासपूर्वक मन्द-मन्द चलते थे। किस प्रकार अमृत में सनी हुई अपनी मनोहर मुस्कान द्वारा हमारे संतप्त हृदयों को सुशीतल बनाया करते थे। कैसी सुखद शीतल विलासमयी चितवन से हमारे चित्त को चुराया करते थे। उनकी प्रेम भरी मीठी-मीठी बातों को सुनकर श्रवण तृप्त ही नहीं होते थे। वे बातें क्या करते थे, मानो कानों में अमृत उड़ेला करते थे। उनकी बातों में कितनी मिठास, कितनी मादकता, कितनी तन्मयता भरी रहती थी। कहाँ तक कहें, उनके समस्त लीला विलासयुक्त कार्यों में एक प्रकार की मादकता भरी रहती थी। इन बातों के कारण हम

सबके चित्त उनकी ओर हठात् आकर्षित हो जाते थे।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! मैं कहाँ तक कहूँ, वे समस्त व्रजांगनायें श्रीकृष्ण के भाव में भावित होकर-उन्हीं में तन्मय होकर-उनकी भिन्न-भिन्न चेष्टाओं का स्वयं ही अनुकरण करने लगीं। वे ऐसी तन्मय हो गयीं कि सब अपने को श्रीकृष्ण ही समझने लगीं। प्रेम की उन्मादावस्था में जो उन्होंने चेष्टायें कीं, उनका कुछ संक्षिप्त वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

है चिन्तातुर करहिँ यादि हरिके कामनिकी।
मधुर-मधुर मुसकान चलन चितवन सुहँसनिकी॥
लीला मधुर विलास यादि करि करिकें रोवें।
है तन्मय उन्मत्त सरिस तनु सुधि बुधि खोवें॥
उच्चस्वरतैं हरिगुननि, गावें रोवें सिर धुनैं।
खग, मृग, गिरि, तरु, लतनितैं, पूछैं हरि कोई न सुनैं॥

विरहोन्मादिनी व्रजांगनायें

[६७३]

गायन्त्य उच्चैरमुमेव संहता
विचिक्युरुन्मत्तकवद् वनाद् वनम् ।
पप्रच्छुराकाशवदन्तरं बहि-
र्भूतेषु सन्तं पुरुषं वनस्पतीन् ॥*

(श्री भा० १० स्क० ३० अ० ४ श्लो०)

छप्पय

वृक्षनिके लै नाम कहें—हे ! पीपर ! पाकर !
हे कदम्ब ! हे बकुल ! नीम ! वट ! चंपक ! गूलर !!
हे रसाल ! रसराज श्याम इत तौ नहिं आये ।
चितवन जाल बिछाय हमारे चित्त चुराये ।।
समुझि स्वारथी नरनिकूँ, सब मिलि तुलसीढिँग गईं ।
करि अतिशय अनुनय विनय, प्रेष्ठ पतो पूछति भईं ।।

सिद्धान्तः तो वृन्दावन के समस्त वृक्ष लता गुल्म तथा पाषाण चिन्मय हैं, किन्तु लोक लीला में तो वे जड़ ही हैं। जो

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! भगवान् के अन्तर्धान होने पर वे व्रजांगनायें उन्हीं के गुणों का उच्च स्वर से गान करती हुई उन्मत्त के समान एक वन से दूसरे वन में फिरने लगीं और वृक्षों के समीप जाकर, आकाश के समान समस्त भूतों के बाहर भीतर रहने वाले सर्वान्तर्यामी श्रीहरि का उनसे पता पूछने लगीं ।"

करती थीं कि बावरे ब्रह्मा ने हमारी आँखों पर ये पलक क्यों बना दिये। पलक बनाने ही थे, तो इन पर निमि को क्यों बिठा दिया। जिससे पलक मारने के समय श्यामसुन्दर का वियोग हो जाता है। मछली के पलक नहीं होते, वह अपलक भाव से अपने प्रियतम पय को निरन्तर देखती रहती है। प्रिय के अङ्क में स्थित रहने पर भी वियोग की अनुभूति होती है। यह वियोग की अति उच्चावस्था है। सामान्यतया प्रियतम का दृष्टि से दूर हो जाना वियोग है। यद्यपि चकई-चकवा सदा साथ रहते हैं, किन्तु रात्रि में दोनों साथ नहीं रह सकते, उनके लिये रात्रि भर का वियोग ही असह्य है। एक इस पार रात्रि भर तड़फता रहता है, एक उस पार वियोग की अग्नि में जलती रहती है। वियोग में प्रायः ये दशायें होती हैं। समस्त अंगों में ताप होना, दुर्बलता आ जाना, रात्रि में नींद न आना, आ जाय तो बीच में निद्रा का उचट जाना और उसी का स्मरण बना रहना, आलम्बशून्यता का अनुभव करना अर्थात् यह सोच होना–"हाय! उन्होंने हमें छोड़ दिया तो हम किसका अवलंब ग्रहण करेंगे,कैसे जीवन बितावेंगे, किसके सहारे संसार में रहेंगे" धैर्य का छूट जाना, शरीर में जड़ता, अंगों में शिथिलता का अनुभव होना, उनकी स्मृति आते ही शरीर जड़वत् पाषाणवत् बन जाना, शरीर में व्याधि होना, उन्मादावस्था हो जाना, कुछ का कुछ काम करना, जो कर रहे हैं उसे भूल जाना, उठते-बैठते मूर्छा आ जाना तथा मृतकवत् अवस्था हो जाना, इस प्रकार वियोग में ऐसी दशायें होती हैं। गोपियों को प्रिय मिलन की आशा थी, अतः उन्हें मूर्छा और मृति तो हुई नहीं, किन्तु उन्मादावस्था में वे पगलियों की भाँति इधर-उधर भटकने लगीं।

चलते-चलते आगे वन में उन्होंने बड़ा-सा पीपल का वृक्ष देखा। उसकी सुखद शीतल छाया थी, हरा-भरा लहलहा रहा

था। उसके कोमल पत्ते वायु में हिल रहे थे। उसके नीचे पहुँचकर गोपियों ने शीतलता का अनुभव किया। अब उन्हें सन्देह हुआ, शीतलता तो एकमात्र श्यामसुन्दर की छत्रछाया में ही है। इसकी छाया में जो शीतलता है, यह इसे कहाँ से मिली। 'ओहो! श्यामसुन्दर अभी इधर से ही निकले होंगे। निकलते समय इसके पसारे हुए हाथों में कुछ शीतलता डाल गये होंगे, अतः वे अश्वत्थ को सम्बोधन करके कहने लगीं—"हे पीपर देवता! तुम सभी वृक्षों में श्रेष्ठ हो, भगवान् की विभूति हो, सब तुम्हारा पूजन करते हैं। हम भी तुम्हारा पूजन करेंगी, किन्तु जब तुम हमारे प्राणधन का पता बता दोगे तब, हमें तुम बता दो नन्दनन्दन हमें छोड़कर कहाँ चले गये हैं। उनके उदर की आकृति तुम्हारे पत्ते से कुछ मिलती-जुलती है।"

जब पीपल ने कुछ भी उत्तर न दिया, तो वे वट के समीप गयीं और उससे बोलीं—"हे वट! तुम्हारी जड़ें सुदृढ़ हैं, तुम्हारे फलों के समान श्यामसुन्दर के लाल-लाल अधरोष्ठ हैं, तुम्हारे कोमल पल्लवों के समान उनके चरणतल और करतल हैं। तुम्हारे समान ही वे त्रितापहारी हैं। उनका तुम पता जानते हो तो बताओ।" उससे भी कुछ उत्तर न पाकर वे आम्र के समीप गयीं और बोलीं—"हे रसाल! तुम रस के समुद्र हो, तुम्हारे फल सभी फलों में श्रेष्ठ समझे जाते हैं। तुम्हें यह मधुरता अवश्य ही नन्द-नन्दन के अधरामृत से प्राप्त हुई होगी। श्यामसुन्दर अपनी प्रणय मुसकानमयी चितवन से हम सबके चित्त चुराकर चोरी से चतुरता पूर्वक चले गये हैं। हम सब उन्हीं को खोज रही हैं, यदि तुम उनका पता हमें बता दोगे, तो हम जन्म-जन्मान्तरों तक तुम्हारी ऋणी रहेंगी। उससे उत्तर न पाकर वे फिर गूलर के समीप गयीं उससे भी निराश होकर वे की शरण में गयीं।

अशोक के समीप जाकर वे बोलीं—"अशोक ! सुनते हैं, तुम सबके शोक को हरने वाले हो। हमारे भी शोक को हर लो। हमें मदनमोहन माधव का पता बता दो। उनसे हमें मिला दो। फिर विल्व से कहने लगीं—"हे विल्व ! तुममें लक्ष्मीजी का निवास है। लक्ष्मीजी से मिलने कमलाकान्त तुम्हारी नीड़ में तो आकर नहीं छिप गये हैं। तुम हमें उनका पता ही बता दो। हम उनसे बोलेंगी नहीं। उनके कार्य में हस्तक्षेप न करेंगी, केवल एक बार उन्हें दृष्टि भरके देखना चाहती हैं।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! कहाँ तक नाम गिनाऊँ, वन में वे जिस वृक्ष को भी सम्मुख देखतीं, उसी को दंडवत् प्रणाम करतीं और अत्यन्त स्नेह और आदर के साथ उससे श्यामसुन्दर का पता पूछतीं। वृक्ष भला क्या उत्तर दे सकते थे, उनसे उत्तर न पाकर फिर आगे बढ़ जातीं। न्यग्रोध, कुरबक, नाग, पुन्नाग, महुआ, हरड़, बहेड़ा, आँवला, मौलश्री, नीम, कटहर, जामुन, प्रियाल, असन, कोविदार, अर्क, खजूर, हिंगोटा, बाँस तथा फरास आदि सभी वृक्षों से उन्होंने एक-एक करके पता पूछा। जब किसी ने उत्तर न दिया, तो उनके मन में एक भाव उठा-"अरे ये सब वृक्ष तो पुरुषवाची हैं। ये पुरुष तो बड़े निठुर होते हैं। देखो, श्यामसुन्दर कितना सुख देकर हमें तृण के समान छोड़कर चले गये। दया तो स्त्रियों के ही हृदय में होती है। दूसरे के दुख को देखकर इनका हृदय द्रवीभूत होता है। परोपकार के लिये सर्वस्व को उत्सर्ग करने का पाठ तो नारी जाति ने ही सीखा है। लाओ, इन लताओं से प्रियतम का पता पूछें। यह सोचकर वे लताओं और स्त्री जाति के पादपों से प्रभु का पता पूछने लगीं।

छप्पय

हे वृन्दे ! हे तुलसि ! श्याम को पतो बताओ ।
कहँ छिपाये श्याम बहिन टुक तनिक दिखाओ ॥
हतभागिनि हम भईं त्यागि हम हरिने दीन्हीं ।
रमन संग श्रीप्रिया गईं तुमने का चीन्हीं ॥
सौति समुझि आगे बढ़ीं, पतो सबनि पूछन लगीं ।
ललित लता पुष्पित लखीं, समुझीं सब सजनी सगीं ॥

लतापतादिकों से प्रभु का पता पूछना

[६७४]

मालत्यदर्शि वः काच्चिन्मल्लिके जाति यूथिके ।
प्रीतिं वो जनयन् यातः करस्पर्शेन माधवः ॥*

(श्रीभा० १० स्क० ३० अ० ८ श्लो०)

छप्पय

हे मालति तुम सदा बसो श्रीजी केशनिमहँ ।
स्वर्ण मालती रंग बसै प्यारी अंगनिमहँ ॥
माधव लये छिपाय माधवी कहाँ बताओ ।
अरी, मल्लिके ! जाति ! यूथिके श्याम दिखाओ ।
प्रेम परस बिनु होहि नहिँ, मन प्रमोद अरु पुलक अँग ।
श्याम अवसि करतेँ परसि, निकसे इततेँ प्रिया सँग ॥

हे भगवान् ! यदि तुम्हें बुद्धि देनी हो, तो ऐसी बुद्धि दो जो नित्य निरन्तर धारा प्रवाह से नटवर के श्रीचरणों में लगी रहे, यदि हमें बुद्धिहीन पागल ही बनाना हो, तो प्रभु के प्रेम में पागल बना दो। प्रभु प्रेम के पागलपन में कितना सुख है, कितना आनन्द है, इसे सांसारिक व्यवहार चतुर पुरुष अनुभव

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! गोपिकायें लताओं से प्रभु का पता पूछती हुई कह रही हैं—"हे मालति ! हे मल्लिके ! हे जाति ! हे यूथिके ! तुमने क्या माधव को देखा है ? प्रतीत होता है वे तुम्हें अपने करस्पर्श से प्रमुदित करते हुए इधर से पधारे हैं।"

कैसे कर सकते हैं। अहा! जब सब जड़चेतन में अपने इष्ट का ही स्वरूप दिखायी दे। चर, अचर, स्थावर, जंगम तथा सजीव निर्जीव का भेदभाव ही मिट जाय,उस समय की द्वन्द्वातीत स्थिति में कैसी रसानुभूति होती होगी, उसे हम नीरस हृदय वाले अनुभवशून्य व्यक्ति क्या समझ सकते हैं। ये तो रस की बातें हैं, रसिक ही इन्हें समझ सकते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! प्रेम में पगली बनी वे व्रज-बालायें व्रजविहारी का अन्वेषण करती हुई पादपों से उनका पता पूछने लगीं। जब वृक्षों ने परमप्रेष्ठ प्राणपति का पता नहीं बताया, तो वे तुलसीजी के समीप गयीं और बोलीं–"हे कल्याणि! तुलसी! देखो, तुम हरिप्रिया कहलाती हो। प्यारे तुम्हें अत्यधिक प्यार करते हैं। तुम भी सदा उनके चरणों में लिपटी रहती हो, उनके कंठ से सटी रहती हो। श्यामसुन्दर कहीं भी चाहें छिपे क्यों न हों, तुम्हें उनका पता अवश्य होगा। देखो, तुम हम से दुराव मत करो। हमें उनका पता बता दो। हमें उनके एक–बार केवल एक बार–ही दर्शन करा दो। हे चितचोरचरणप्रिये! तुम हमसे सौतियाडाह मत करो। हम तुम्हारा स्थान छीनना नहीं चाहतीं, हम तो उनकी झाँकी की भूखी हैं। वे कंठ में तुम्हें धारण किये हुए और वनमाला की दिव्य मकरंद के लोभ से चारों ओर गुन गुनाते मधुकरों को करों से वारण करते हुए अभी-अभी अवश्य ही इधर से निकले होंगे।"

छोटी-सी श्यामा तुलसी ने जब कुछ भी उत्तर न दिया, तो गोपी परस्पर में कहने लगीं—"बहिनो! ये छोटी बड़ी खोटी होती हैं। यह भी तो श्याम की प्रिया श्यामा है। यह भी अपने प्रियतम कृष्ण की भाँति कठोर है। स्त्री जाति में चाहे जितने सद्गुण हों, किन्तु इनमें यह सौतियाडाह का बड़ा भारी दुर्गुण है। इनकी सदा यही इच्छा बनी रहती है, मेरा प्रियतम किसी

अन्य से प्रेम की दो मीठी बात भी न करे। इस तुलसी को तो श्याम ने सिर पर चढ़ा रखा है। इसे तो इतना आदर दे रखा है, कि चाहे छप्पन भोग क्यों न हों, बिना तुलसी के श्याम एक ग्रास नहीं तोड़ते। जहाँ तुलसी कानन होता है वहाँ नन्द-नन्दन नित्य निरन्तर निवास करते हैं। इसलिये वे होंगे, तो कहीं यहीं तुलसी के बन में ही। यहीं कहीं वृन्दावन की निकुञ्जों में लुके-छिपे बैठे होंगे, किन्तु इस तुलसी से पता पाना कठिन है, असम्भव है। चलो, आगे चलकर इन फूली-फली लताओं से पूछें। क्योंकि ये सब परम प्रमुदित हो रही हैं, आनन्द में विभोर बनी फूल रही हैं। प्रभु के सुखद संस्पर्श के बिना प्राणों को प्रसन्नता होती ही नहीं।' यही सब सोचकर वे खिली हुई लताओं के समीप गयीं।

सबसे पहिले वे मल्लिका (चमेली) के समीप गयीं और बोलीं—"बहिन मल्लिके! देखो, तुम तो किसी स्त्री में भेदभाव करती नहीं, सबके केशपाशों की शोभा बढ़ाती हो। सभी अंगनायें तुम्हारा अत्यधिक आदर करती हैं; तुम्हें सिर पर चढ़ाती हैं, अपने कुटिलकेशों में-धम्मिलों में-तुम्हें गूँथती हैं, तुम्हें कंठ का हार बनाती हैं। तुम्हें अपनी प्रियो की प्यारी समझकर प्रियतम श्यामसुन्दर भी तुम्हें प्यार करते हैं। तुम हमें यह बता दो, कि हम सबको अकेली बिलखती छोड़कर श्यामसुन्दर अपनी अकेली प्रियतमा को लेकर इधर से निकले हैं क्या?"

शुभ्र मल्लिका ने जब कुछ भी उत्तर न दिया, तो वे पीली सुवर्ण मल्लिका के समीप गयीं और बोलीं—"सुवर्ण मल्लिके! तुम्हारा रंग सर्वथा श्रीजी के अंग के रंग के सदृश है। प्रिया के रंग के सादृश्य से श्यामसुन्दर तुम्हें सबसे अधिक प्यार करते हैं। तुम्हारे हार को कंठ में बड़े उल्लास के साथ धारण करते हैं। प्रियाजी की तो मानो तुम सहचरी ही हो। तुम्हें किसी

का पक्षपात भी नहीं है। हमारे सौभाग्यमद और अभिमान के कारण मदनमोहन हमसे रूठकर हमें अनाथ निरालम्ब बनाकर कहीं चले गये हैं। कहाँ चले गये हैं, इसका अभी तक हमें किसी ने पता बताया नहीं। तुम जानती हो तो हमें बता दो।"

जब स्वर्णमालती भी मौन ही बनी रही, मोहन का कुछ भी पता न बताया, तो फिर वे माधवी लता की कुञ्जों में गयीं। माधवी को सम्बोधित करके कहने लगीं। हे माधवी! तुम माधव की परम प्रिया हो, इसीलिये तुम्हारा नाम माधवी है। तुम्हारी कुञ्जों में केलि करना कृष्ण को अत्यन्त प्रिय है, यद्यपि तुम माधव की प्यारी माधवी लता हो, फिर भी हमें तुम्हारा विश्वास नहीं होता, क्योंकि तुम सदा रंग बदलती रहती हो, तुम्हारे पुष्प उत्पन्न होते समय बाल्यकाल में तो स्वच्छ शुभ्र हो जाते हैं, जहाँ यौवन का मद चढ़ा, तहाँ वे लाल हो जाते हैं। जो परिवर्तनशील हैं, जिसमें स्थिरता नहीं, उसकी बात का विश्वास ही क्या किया जाय। यह सोचकर वे आगे बढ़ीं, आगे बढ़कर उन्होंने सफेद फूलों से लदी मल्लिका की लता को देखा और उससे बोलीं—"मल्लिके! तुम सर्पों को भी शरण देती हो। भौंरा भी तुम्हारे समीप आकर सुखी होते हैं, देखो, हम निराश्रया होकर भटक रही हैं, हमारे ऊपर कृपा करो। हमें नन्द-नन्दन का पता बता दो।"

मल्लिका से भी कुछ उत्तर न पाकर वे फिर चम्पा के पास गयीं और बोलीं—"चम्पे! तुम तो हमें कृष्ण का पता अवश्य ही बता दोगी, क्योंकि तुम्हें तो कृष्णवर्ण से घृणा है, इसीलिये भौंरा तुम्हारे समीप नहीं आता। तुम तो पक्षपात न करोगी। पीत चम्पा की कली के सदृश वृषभानुलली के अंगों की आभा है। कटहली चम्पा के सदृश उनकी साड़ी है। श्यामसुन्दर उन्हें अकेली ही बहकाकर न जानें वन में कहाँ ले गये हैं। तुम्हारे

पुष्पों को अपनी प्रिया को प्रसन्न करने के निमित्त तोड़ा हो, तो हमें बता दो। हमें उस मार्ग को दिखा दो।

जब चम्पा ने भी कुछ उत्तर न दिया, तो जाति (वेला) की लता के समीप गयीं और कहने लगीं—"बहिन जाति! हमारी तुम्हारी जाति एक है, तुम भी स्त्री जाति हो और हम भी। अन्तर इतना ही है, तुम फूली हुई हो, हम मुरझाई हुई हैं, हम भी फूल जायँ, यदि हमें मदनमोहन मिल जायँ। एक बार वे हमें हृदय से लगालें तो हम निहाल हो जायँ। जीवन में जितना अधिक सुख प्रियतम के प्रेमालिंगन में है, उतना अन्य किसी भी वस्तु में नहीं है। तुम जो फूल रही हो, इसका यही कारण प्रतीत होता है, कि इधर से निकलते हुए श्यामसुन्दर ने तुम्हारा स्पर्श किया है। क्योंकि प्यारे का सुखद करस्पर्श पाकर शरीर रोमांचित हो जाता है, उसमें कँपकँपी उठने लगती है। रोएँ खड़े हो जाते हैं और हृदय में आनन्द की हिलोरें उठने लगती हैं। हम देखती हैं, तुममें ये सभी लक्षण घटित हो रहे हैं, अवश्य ही अपनी प्रिया का शृङ्गार करने के लिये उन्होंने तुमसे पुष्पों की याचना की होगी और तुमने सहर्ष स्वीकृति प्रदान करके अपने अंगों से उनके कोमल करों का संस्पर्श प्राप्त किया होगा।"

जब जाति ने भी कुछ न बताया, तो वे यूथिका (जूही) की लता के निकट गयीं और बोलीं—"यूथिके! हम देखती हैं, एक से प्रेम करने वाली दो स्त्रियाँ परस्पर में हृदय से हृदय सटाकर मिलती नहीं, किन्तु हम तुममें इससे विपरीत भाव पाती हैं, तुम्हारी लतायें परस्पर में ऐसी सट जाती हैं, कि इन्हें कोई हठात् पृथक् करना चाहे तो पृथक् न होंगी, चाहे बीच से टूट जायँगी। तुम्हारी गन्ध उत्कट भी नहीं, तीक्ष्ण भी नहीं, मीठी-मीठी मन्द-मन्द सुगन्ध है। तुम्हारे हार गजरे प्रियाओं को अत्यन्त प्रिय हैं। प्रायः तुम सदा फूली रहती हो। तुममें हमने

कभी पतझड़ भी नहीं देखा, सदा हरी भरी रहती हो। तुम्हारी लता सुन्दर, सघन, शीतल और सुखद होती है। अपनी सखी के साथ श्यामसुन्दर ने तुम्हारे नीचे विश्राम तो नहीं किया है ?"

जब यूथिका भी मौन ही बनी रही, तब गोपिकाओं ने करुणा भरी वाणी में सभी स्त्री पुरुषवाचक वृक्ष, लता और गुल्मों को सम्बोधित करके कहा—"हे यमुना तटवर्ती तरुवरो ! हे परोपकार के ही लिये जीवन धारण करने वाले पादपो ! हे घाम, शीत और वर्षा के कष्टों से बचाने वाले वृक्षो ! हम अबला हैं, निराश्रिता हैं, प्रियतम द्वारा परित्यक्ता हैं, आपमें से कोई भी हमारे ऊपर दया करो, कृपा करो, अनुग्रह करो। हम सब चेतनाहीन हो रही हैं। हमें कोई श्यामसुन्दर को एक बार दिखा दो, हमें उनसे क्षणभर को मिला दो, नहीं तो वे जिस मार्ग से निकले हैं, उनके उस मार्ग को ही बता दो।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! लता वृक्षों से भगवान् का कुछ भी पता न पाकर वे गोपिकायें निराश हुईं। तब उन्होंने पृथ्वी से पूछना आरम्भ किया। वे धरणी को सम्बोधित करके बोलीं—"हे बहिन वसुन्धरे ! तुम ही सब धनों को धारण करती हो, इसीलिये तुम्हारा नाम वसुन्धरा है। हमारे हृदयधन के भी चरणों को तुम अपने वक्षःस्थल पर धारण करती हो, इसीलिये घास रूप में तुम्हारे रोमाञ्च हो रहे हैं। जब तुम पाताल में चली गयी थीं, तब ये ही श्यामसुन्दर वाराह रूप रखकर तुम्हें अपने ऊपर बिठाकर लाये थे। तब तुमने भयभीत-सी होकर उनका गाढ़ालिंगन कर लिया था। तुम जानती हो प्रियालिंगन में कितना प्रमाद है, वामनावतार में भी एक ही पैर से उन्होंने तुम्हारे सम्पूर्ण शरीर को दबा दिया था। तुम तो उनकी प्रिया हो, तुम्हारे कठिन वक्षःस्थल पर वे निरावरण अपने अरुण चरणों को निःसंकोच रख देते हैं और तुम उन्हें कृपण के धन के सदृश

छिपा लेती हो, उनकी चरणकमलों की पावन पराग से अपने को धन्य बना लेती हो, हमें भी धन्य बना दो, हमें भी प्यारे का पता बता दो, वे अकेले नहीं हैं, अपनी प्रिया को साथ लिये हुए हैं।"

पृथ्वी से कुछ भी उत्तर न पाकर वे इधर-उधर देखने लगीं। इतने में ही सामने से डह-डहे नयनों वाली हरिनियाँ अपने पति-हरिन के साथ आती हुईं दिखाई दीं। उन हरिनियों को देखकर वे कहने लगीं—"बहिनाओ ! स्त्री जाति में जन्म लेकर तो तुम ही कृतार्थ हुईं। तुम सदा अपने पति के साथ लगी रहती हो। तुम्हारे पति कभी तुम्हें छोड़ते नहीं। देखो, हमारे प्राणपति श्यामसुन्दर तो हमें छोड़कर चले गये। तुम्हारे नेत्रों से अनुराग फूट-फूटकर निकल रहा है, इससे प्रतीत होता है, तुमने श्यामसुन्दर को अपनी प्रियतमा के साथ इधर से जाते हुए अवश्य ही देखा होगा। उनकी प्राणप्रिया के कमलनयन तुम्हारे नयनों से मिलते-जुलते-से हैं। हमें इस बात में कुछ भी सन्देह नहीं है, कि वे यहाँ न आये हों, क्योंकि अपनी प्राणप्रिया के अंग-संग से उनके कुच कुंकुम से रञ्जित कुन्दकली की माला की मनोहर गन्ध आ रही है। अवश्य ही यह गंध कुलपति कृष्ण के कंठ की माला की ही है। तुम हम पर कृपा करके उनका पता बता दो।"

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! ये श्रीकृष्ण की प्राणप्रिया कौन हैं ? ये गोपिकायें बार-बार उनका नाम ऐसे संकेत से क्यों लेती हैं ?"

सूतजी ने कहा—"श्रीकृष्ण की प्राणप्रिया ये श्रीराधिकाजी हैं। श्रीकृष्ण की आह्लादिनी शक्ति हैं। श्रीकृष्ण का समस्त आह्लाद, रास, विलास, तथा सर्वसुख इन्हीं के कारण है। श्रीकृष्ण इन्हीं के संकेत से नाचते हैं। भगवान् व्यासदेव ने श्रीमद्भागवत में इनका नाम स्पष्ट रूप से नहीं लिया।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! ये श्रीराधिकाजी कौन हैं ? किनकी पुत्री हैं, श्रीकृष्णजी से इनका क्या सम्बन्ध है, अब तक आपने इनका उल्लेख क्यों नहीं किया। भगवान् व्यास ने श्रीमद्-भागवत में इनका स्पष्ट नाम क्यों नहीं लिया, कृपा करके पहिले हमारे इन प्रश्नों का उत्तर दें, तब आगे की कथा कहें।"

यह सुनकर सूतजी गम्भीर हो गये और बोले—"भगवन् ! राधातत्व तो बहुत गम्भीर है, इसका वर्णन शुक सनकादि, शेष, शारदा तथा नारद, ब्रह्मादि भी नहीं कर सकते। ये सब बहुत रहस्य का बातें हैं, सबके सम्मुख प्रकट करने की भी नहीं हैं। शास्त्रकारों ने बड़े कौशल से—परोक्ष रीति से—इन बातों का वर्णन किया है, मैं यथामति यथाशक्ति अत्यन्त संक्षेप में आपके प्रश्नों का उत्तर दूँगा। आप दत्तचित्त होकर श्रवण करें।"

छप्पय

हे धरनी ! तू धन्य पाद प्रभु के धारति नित।
लिये लाड़िली संग लाल गिरधर निरखे इत॥
हे मृगबधुवर ! नयन नेहमहँ भीजे तुमरे।
बहिना ! देउ बताइ गये इत प्रियतम हमरे॥
राधा कन्धा कर धरे, क्रीड़ा कमल घुमावते।
निरखे नँदनन्दन नयन, खग मृग कुल सरसावते॥

—o—

श्रीराधा

[६७५]

अप्येणपत्न्युपगतः प्रिययेह गात्रै-
स्तन्वन् दृशां सखि सुनिर्वृतिमच्युतो वः ।
कान्ताङ्गसङ्गकुचकुङ्कुमरञ्जितायाः
कुन्दस्रजः कुलपतेरिह वाति गन्धः ॥*

(श्रीभा० १० स्क० ३० अ० ११ श्लोक)

छप्पय

शौनक पूछें—सूत ! कौन राधा ये प्यारी ।
सूत कहें—मुनि ! शक्ति स्रोत सुख भरिवेवारी ॥
श्रीवृषभानु कुमारि कीर्तिपुत्री सुकुमारी ।
बरसाने की लली किशोरी भोरी भारी ॥
गोपी, कान्ता राधिका, प्रिया प्रेयसी कामिनी ।
नित्यकिशोरी लाड़िली, मनमोहन मनभावनी ॥

प्रेम मार्ग में अति रहस्य बात को संकेत से समझाया जाता

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! गोपिकायें हरिनियों से पूछ रही हैं—"हे सखी मृगियो ! श्रीकृष्णचन्द्र अपनी प्रियतमा के साथ अपने अङ्गों की आभा से तुम्हारी आँखों को आनन्दित करते हुए इधर से गये हैं क्या ? वे अवश्य गये होंगे, क्योंकि यहाँ प्रिया के अंग-सङ्ग से उनके कुचकुंकुम से रञ्जित उन कुलपति श्रीकृष्णचन्द्र की कुन्दकली की माला की मनोहर गन्ध आ रही है ।"

है। देवता भी परोक्षप्रिय ही होते हैं, फिर प्रेम तो हृदय की वस्तु है। हम किसी से प्रेम करते हैं, जब तक वह ढका रहता है, आँखों और संकेतों में ही होता है, तभी तक उसमें स्वारस्य अधिक रहता है। जहाँ वाणी से व्यक्त किया, तहाँ उसका वह स्वारहस्य चला जाता है। प्रेम कहने की वस्तु नहीं वह अनुभव की है। प्रेम की वस्तु बताई नहीं जाती। प्रेम तो बहुत बड़ी वस्तु है। किसी से उसके धन को पूछो, तो वह भी अपने पूरे धन को न बतावेगा। यही कह देगा "किसी तरह पेट भर लेते हैं।" जब कोई अपने तुच्छ लौकिक धन को नहीं बताता, तो प्रेम को कैसे बता सकता है, कि हम इनसे प्यार करते हैं। लोग चाल-ढाल देखकर अनुमान लगाते हैं। किसी का अनुमान कुछ सत्य निकलता है, कोई मिथ्यानुमान के ही पीछे पड़ जाते हैं। क्योंकि अनुमान तो अनुमान ही है। जो अत्यन्त बहुमूल्य धन होता है वह सबके सम्मुख नहीं बताया जाता, उससे न्यून मूल्य की वस्तु रखकर संकेत में कह देते हैं, इससे भी एक मूल्यवान वस्तु है। वह क्या वस्तु है, इसमें उसका संकेत मात्र है। रास विलास लीला में सबसे प्रधान हैं श्रीकृष्णचन्द्रजी। श्रीकृष्णचन्द्रजी ने रास रचा, यही सर्वत्र प्रसिद्ध है, प्रसिद्धि तो श्रीकृष्णचन्द्रजी की है, किन्तु क्या वे एकाकी रमण कर सकते हैं। बिना रासेश्वरी के रास कैसा ? बाहर जाते हैं—तो पूछते हैं यह किसका लड़का है ? सब उसके पिता का नाम ले देते हैं। जहाँ भी लिखा जायगा, पिता का नाम लिखा जायगा। पिता के नाम को सब जान जायँगे। किन्तु क्या अकेला पिता पुत्र को उत्पन्न कर सकता है। पुत्रोत्पत्ति में माता पिता दोनों की आवश्यकता है। पिता से भी अधिक माता का गौरव है, किन्तु माता का नाम गुप्त है, उसे कोई-कोई ही जानते हैं, लिखने वाले पिता का ही नाम लिखते हैं, माता का नाम सभी अनुमान ही करते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! आपने मुझसे श्रीराधाजी के सम्बन्ध में प्रश्न किया है। भगवान् व्यासदेव ने समस्त श्रीमद्भागवत में श्रीराधाजी का कहीं स्पष्ट नाम नहीं लिया, केवल संकेत से ही वर्णन किया है। मेरे गुरुदेव भगवान् शुकदेवजी ने भी कहीं श्रीमती राधिकाजी का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया।"

शौनकजी ने पूछा—"हाँ तो सूतजी ! यही तो हमें शंका है, कि जिन्हें आप रासेश्वरी कहते हैं, जिनके संकेत पर ही श्यामसुन्दर नाचते हैं उनका नाम व्यासजी ने कहीं स्पष्ट क्यों नहीं लिया ?" सूतजी ने कहा—"महाराज ! मैं इस बात को कई बार बता चुका हूँ, प्रेम में जितना ही भावगोपन होता है उतना ही उसमें रस बढ़ता है। "काचित्"कहकर व्यासजी ने संकेत कर दिया। अपनी-अपनी कथन की पृथक-पृथक प्रणाली होती है, श्रीराधिकाजी का ही क्या व्यासजी ने ललिता, विशाखा आदि किसी भी सखी का नाम नहीं लिया। सबका वर्णन 'कोई एक' कहकर ही किया है। प्रिया, प्रेयसी तथा गोपी आदि कहकर ही श्रीराधाजी का उल्लेख किया है।"

शौनकजी ने कहा—"तो सूतजी ! हम प्रिया प्रेयसी से राधाजी का ही ग्रहण क्यों करें ? प्रेयसी प्रिया तो कोई भी गोपी हो सकती है।"

सूतजी ने कहा—"महाराज ! कोई कैसे हो सकती है 'पंकज' शब्द का अर्थ है, कीच से जो उत्पन्न हो। तो कीच से तो सिवार भी होता है, जोंक भी होती हैं, इन सबको पंकज नहीं कहते। जो जिसके उद्देश्य से व्यवहृत होगा, उससे उसी का बोध होगा। श्रीराधिकोपनिषद् में जहाँ श्री राधाजी के सर्वप्रधान सत्ताईस नाम बताये गये हैं उनमें उनका एक नाम गोपी भी है। इसके अतिरिक्त राधा दिव्य सहस्रनामों में 'प्रेयसी' प्रेमकामिनी

ये नाम भी श्रीराधाजी के आते हैं।* इन नामों का तो श्रीमद्-भागवत में उल्लेख है ही।

इसके अतिरिक्त भगवान् व्यास की रचित केवल श्रीमद्भागवत ही तो नहीं है। शेष सत्रह पुराण, उपपुराण और दूसरे पुराण उन्हीं के बनाये हुए हैं। प्रायः इन सभी पुराणों में श्रीराधिकाजी के चरित्र का विस्तार के साथ वर्णन है। गर्गसंहिता ब्रह्मवैवर्त पुराण, पद्मपुराण, स्कन्धपुराण तथा अन्यान्य सभी छोटे बड़े पुराणों में कहीं संक्षेप में, कहीं विस्तार से श्रीराधाजी के चरित्र का वर्णन है। श्रीमद्भागवत में उसी धन को इस प्रकार छिपा कर रखा है कि पढ़ने को तो सब पढ़ जायँ, किन्तु इसका गूढ़ रहस्य कोई विरले ही ज्ञानी भगवद्भक्त पुरुष समझें। अन्य पुराणों में तो स्पष्ट वर्णन है, किन्तु यहाँ बीजक रूप में छिपाकर रखा है। उस बीजक को पढ़ते सब हैं, किन्तु उसका रहस्य न समझकर उस सुख से वञ्चित रहते हैं। कोई अनन्योपासक उन्हें समझावे तब उसका रसास्वादन कर सकते हैं।

शौनकजी ने पूछा—"गूढ़ बीजक क्या होता है, सूतजी। इस विषय को स्पष्ट समझावें।"

सूतजी बोले—"महाराज! ये जो व्यापारी होते हैं उनके यहाँ तीन बही प्रधान होती हैं, एक रोकड़ बही, एक खाता बही, एक बीजक बही। रोकड़ में तो जो नित्य का व्यय हो वह लिखा

---

* वृषभानुसुता गोपी मूल प्रकृतिरीश्वरी।
गांधर्वा राधिका रम्भा रुक्मिणी परमेश्वरी॥

(राधिकोपनिषद्)

* प्रेमकला परा भद्रा प्रेयसी प्रेमकामिनी।
प्रभावती च प्रेमाङ्गी परा च परदेवता॥

(श्रीराधा दिव्य सहस्रनाम स्तोत्र)

जाता है। किसके नाम कितना गया, कितना आया, खाता बही में पृथक्-पृथक् खाता बनाकर लिख दिया जाता है। जिसका आय-व्यय देखना हो समूची रोकड़ बही को उलटने की आवश्यकता नहीं, खाता बही में उसका खाता निकालकर देख लो। किन्तु बीजक को तो वही समझ सकता है जिसने आय-व्यय किया हो, या जो इन बहियों के मर्म को जानता हो, अनाड़ी के सामने बीजक को रख दो वह कुछ भी नहीं समझेगा। इस विषय को मैं एक दृष्टान्त देकर स्पष्ट करता हूँ।

एक कोई बहुत बड़े करोड़पति भगवद्भक्त सेठजी थे। उन्होंने दस बीस लाख रुपये की सुवर्ण मुद्रायें सुवर्ण के कलशों में भरकर भूमि में गाड़ दीं। ताम्रपत्र पर उसका बीजक बना दिया और मरते समय अपने पौत्रों से कह गये—"मैंने कुछ धन भूमि में गाड़ दिया है, उसका यह बीजक है जब तुम्हें बहुत आवश्यकता हो और भगवान् की पूजा भली-भाँति न हो, तब उसे खोदना।" ऐसा कह कर सेठजी परलोक सिधार गये। उनके पुत्र बहुत धनिक थे। अतः उन्होंने उस बीजक की ओर ध्यान नहीं दिया। वे जानते थे धन कहीं मन्दिर में ही गड़ा होगा। कालांतर में वे लोग निर्धन हो गये। अब भगवान् का जो मन्दिर था उसकी पूजा भी विधिपूर्वक न होती थी, तब उन्हें उस बीजक की याद आयी। ताम्रपत्र पर लिखे हुए उस बीजक को निकाला। उसमें लिखा था—चार सुवर्ण कलश, मन्दिर की बुरजी, रामनवमी, ठीक मध्याह्नकाल, बारह बजे। बीजक, उन लोगों ने उसे पढ़ा। मन्दिर की बुरजी को इधर-उधर को ईंटें निकलवाकर खुदवाया। सोने के चार कलश कहीं नहीं मिले, मन्दिर खुदवाया कहीं कुछ नहीं। वे बड़े निराश हुए। गाँव के सब लोगों ने पढ़ा, किसी की समझ में कुछ बात आती नहीं थी। सेठ के पुत्र पौत्र निराश हो गये। उन्हें इस बात का

तो विश्वास था, हमारे पिता ने कहीं यहीं धन गाड़ा है, उसका बीजक भी है, किन्तु वह इतने रहस्यमय ढँग से है, कि उसे हम समझ नहीं सकते। बेचारे दुख से दिन काटने लगे।

संयोग वश कोई महात्मा उधर आ निकले। मन्दिर की ऐसी दुर्व्यवस्था देखकर उन्होंने पूछा—"भाई, यह किसका मन्दिर है?"

लोगों ने बताया—"महाराज अमुक सेठ का है, उनके वंशज निर्धन हो गये हैं। वे पूजा करने में असमर्थ हैं।"

महात्मा ने सेठजी के पुत्र पौत्रों को बुलाया और पूछा—"भाई! तुम लोग भगवान् की पूजा भली-भाँति क्यों नहीं करते?"

उन लोगों ने कहा—"महाराज! क्या बतावें हमारा पेट ही नहीं भरता। सोना उठाते हैं, मिट्टी हो जाता है, समय का फेर है। हमारे पूर्वज कुछ धन गाड़ गये थे, उसका बीजक हमारे पास है, किन्तु धन कहाँ है, हमें उसका कुछ पता ही नहीं चलता।"

महात्मा ने कहा—"अच्छा, उस बीजक को यहाँ लाओ।"

महात्मा के कहने से वे बीजक को घर में से ले आये। महात्मा ने उसे पढ़ा और पढ़कर सब रहस्य समझ गये। बोले—"यदि तुम इस धन में से चौथाई भाग भगवान् की सेवा में लगाने का वचन दो, तो हम तुम्हें बता दें।"

उनमें से जो बड़ा था, उसने कहा—"महाराज! चौथाई नहीं इसमें का सभी धन भगवान् की ही सेवा में लगे। पृथ्वी में गड़ा रहने से तो अच्छा यही है, कि वह भगवान् की पूजा में लगे। हम तो अपने प्रारब्ध के भोगों को भोगेंगे ही। हमारे प्रारब्ध में धन होता, तो इतना धन नष्ट क्यों हो जाता।"

गाँव के सब पंच भी जुड़ आये थे, बात यह तै रही, कि जो धन मिलेगा, आधे से तो ये सेठ लोग अपना व्यापार करेंगे और आधे को भगवान् की सेवा में लगावेंगे।"

यह निश्चय होने पर महात्मा बोले—"हम अभी नहीं बतावेंगे। छै महीने तुम सब मिलकर भगवान् की प्रेमपूर्वक आराधना करो। छै महीने पश्चात् हम आवेंगे। तब बतावेंगे।"

महात्मा सौम्य थे, तेजस्वी तथा सत्यवादी प्रतीत होते थे, सबने विश्वास किया, महात्मा चले गये, सब लोग बड़ी उत्सुकता के साथ छै महीने प्रतीक्षा करने लगे। महात्माजी जब पधारे थे तब कार्तिक का महीना था। छै महीने पश्चात् चैत्र में वे पुनः पधारे। बात बहुत दूर-दूर तक फैल गयी थी। महात्मा के दर्शनों को और धन के कुतूहल के कारण बहुत लोग एकत्रित हो गये थे। रामनौमी को मन्दिर में, बड़ा भारी उत्सव मनाया गया। जब घंटिका में बारह बजे, तब महात्मा बाहर निकले। मन्दिर की बुरजी की जहाँ छाँह पड़ती थी वहाँ उन्होंने ध्यान से देखा एक स्वस्तिक का चिन्ह बना है। महात्मा ने कहा—"यहाँ खोदो, तुरन्त खोदा गया। सुवर्ण के चार कलश सुवर्ण मुद्राओं से भरे हुए निकले। सबके हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। सब लोग महात्मा को सिद्ध अन्तर्यामी बताने लगे।

महात्मा ने कहा—"न मैं सिद्ध हूँ, न अन्तर्यामी। मैंने कोई नई बात भी नहीं बताई। जो इस बीजक में है उसी की प्रसंगानुसार व्याख्या कर दी है। इसमें लिखा था—"चार सुवर्ण कलश, मन्दिर की बुरजी, रामनवमी, ठीक मध्याह्न काल बारह बजे।"

चार सुवर्ण कलश से तो स्पष्ट है, चार सोने के कलशों में धन है, मन्दिर की बुरजी का अर्थ लगाओ, मन्दिर की बुरजी में तो चार कलश चुने नहीं जा सकते, इसका अर्थ है, मन्दिर की

बुरजी की जहाँ छाँह पहुँचे। रामनवमी। ठीक मध्यान्ह बारह बजे यदि धन गड़ा होता, तो उसमें सम्वत् का उल्लेख अवश्य रहता। केवल रामनवमी और मध्याह्न लिखने से यही अभिप्राय है, कि रामनौमी को मध्यान्ह में मन्दिर की बुरजी की जहाँ छाँह पहुँचे वहाँ धन है। मैंने देखा मध्यान्ह के समय जहाँ छाँह पहुँची वहाँ स्वस्तिका चिन्ह मिल गया। धन तो तुम्हारे पूर्वजों का ही गाड़ा हुआ है। बीजक में उसका उल्लेख है तो सही, किन्तु गुप्त रूप से है। मैंने गुरु कृपा से उसे समझकर तुम्हें बता दिया। इसमें कोई मैंने नई बात तो बतायी नहीं। यह कहकर महात्मा चले गये। सेठ के पुत्रों ने आधा धन भगवान् की सेवा में व्यय किया, आधे से व्यापार किया, फिर वे पहले की भाँति माला-माल हो गये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! समस्त वेद पुराण व्यासजी का धन है। इसीलिये संपूर्ण ज्ञान को व्यासोच्छिष्ट कहा जाता है। श्रीमद्भागवत समस्त शास्त्रों का बीजक है। जिसने समस्त पुराण तथा शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त नहीं किया है अथवा ऐसे ज्ञानियों का सत्संग नहीं किया है, वह इसके यथार्थ रहस्य को समझ नहीं सकता। इसमें बहुत-सी बातें तो अत्यन्त ही गुप्त रूप से कही गयीं हैं, उनमें एक श्रीराधातत्त्व भी है। कहीं भी श्रीराधाजी के नाम का स्पष्ट उल्लेख किये बिना ही समस्त रहस्यमयी लीलाओं का संकेत कर दिया है।"

इस पर शौनकजी बोले—"सूतजी! आपके पिता श्रीलोमहर्षणजी ने तो भगवान् व्यासदेवजी की कृपा से समस्त पुराणों को पढ़ा है। पैतृक धन की भाँति वह समस्त ज्ञान ऋषियों और संकर्षणावतार भगवान् बलदेवजी की कृपा से आपको प्राप्त हुआ है। कृपा करके आप अन्य पुराणों के आधार से हमें श्रीराधातत्त्व को विस्तार के साथ समझावें।"

यह सुनकर हँसते हुए सूतजी बोले—"अजी, महाराज! श्रीराधाजी के तत्त्व का विस्तार के साथ वर्णन भला कौन कर सकता है। श्रीकृष्ण के चरित्रों का पार तो संभव है, श्रीकृष्ण पा भी लें, किन्तु श्रीराधाजी के चरित्रों का पार तो श्रीकृष्ण भी नहीं पा सकते। समस्त वेद पुराणों में श्रीराधाजी के तत्त्व का वर्णन है। व्रज के रसिक भक्तों ने श्रीराधाकृष्ण केलि और निकुञ्ज विहार के सम्बन्ध में इतना अधिक लिखा है, कि स्यात् ही किसी विषय पर इतना साहित्य उपलब्ध हो। इन रहस्यमयी लीलाओं का इतनी सरस भाषा में वर्णन किया है कि सब उसके श्रवण के भी अधिकारी नहीं। मैं यथामति यथाशक्ति अत्यन्त संक्षेप में पुराणों और संतों की वाणी का सारातिसार भाग कहता हूँ, आप सब दत्तचित्त होकर श्रवण करें।

मुनियो! रमण एकाकी नहीं होता और असमानशीलवालों में भी नहीं होता। अतः जब भगवान् को क्रीड़ा करने की कामना होती है, तो वे एक के दो हो जाते हैं। क्योंकि बिना शक्ति के कोई भी कभी भी किसी का कार्य होता नहीं। शक्तिहीन का ही नाम शव है। शक्ति के सहित ही शिव-शिव हैं। जो जैसा होता है, उसकी शक्ति भी वैसी ही होती है। यद्यपि हाथी और चींटी में एक ही जीवात्मा है; फिर भी हाथी के शरीरानुरूप उसकी शक्ति पृथक् है, चींटी की शक्ति पृथक् है। भगवान् की शक्ति का ही नाम राधा है। उसे राधा कहो, दुर्गा कहो, लक्ष्मी कहो, सरस्वती कहो, सावित्री कहो सब एक ही बात है। भिन्न-भिन्न रूपों में भगवान् की भिन्न-भिन्न शक्ति हैं। कोई इन्हें प्रकृति के नाम से पुकारते हैं कोई माया कहते हैं। भिन्न-भिन्न लीलाओं में इनके भिन्न-भिन्न नाम रूप हो जाते हैं। साधारणतया जैसा शक्तिमान होता है वैसी ही उसकी शक्ति भी होती है। भगवान का रूप जग-मोहन है, तो उनकी शक्ति भी जगन्मोहिनी है। भगवान् रासेश्वर

हैं तो उनकी शक्ति रासेश्वरी हैं। भगवान् अचिन्त्य लीला वाले हैं तो श्रीराधाजी की भी महिमा अचिन्त्य है। भगवान् आनन्द स्वरूप हैं, तो वे भी आनन्द की वर्षा करने वाली हैं। इस प्रकार संसार में जितनी लीला हैं सब श्रीराधाजी की ही लीला विलास है। वे श्रीकृष्ण से भिन्न नहीं केवल रसास्वादन करने को दो होकर एक होते हैं। एक कथा ऐसी है, कि गोलोक में जब श्रीकृष्ण की रास करने की इच्छा हुई, तो उनकी इच्छा ही मूर्तिमती किशोरी बनकर उनके वामापार्श्व से प्रगट हो गयी। रास में उत्पन्न होकर अपने शक्तिमान् की सेवा के निमित्त-आरम्भिक अर्घ्य देने के निमित्त पुष्प चयन के लिये उन्होंने धामन-गमन किया, इसीलिये उनका नाम राधा पड़ा। अथवा श्रीकृष्ण इनकी आराधना करते हैं और ये श्रीकृष्ण की आराधना करती हैं, इस हेतु भी इन्हें राधा कहते हैं। राधा कहो, राधिका कहो, राधस कहो सब एक ही बात है। इनका प्राकट्य रासविलास के ही निमित्त हुआ, अतः ये रासेश्वरी हैं। इनका प्रादुर्भाव क्रीड़ा के ही निमित्त हुआ अतः ये क्रीड़ाप्रिया हैं, अपने शक्तिमान् के साथ नित्य नूतन-नूतन लीलायें रचती हैं, प्रधान शक्तिमान् की प्रधान शक्ति के द्वारा ही समस्त शक्तियों का विकाश होता है, श्रीराधिकाजी के रोम कूपों से-अल्पशक्ति से ही-अन्य असंख्य गोपियों का प्राकट्य हुआ। यह सब लीला में ही प्रादुर्भाव तिरोभाव है, वास्तव में तो शक्ति शक्तिमान् सदा अभिन्न हैं, नित्य हैं, शाश्वत हैं, उनका आविर्भाव नहीं, तिरोभाव नहीं। उत्पत्ति नहीं, विनाश नहीं। ह्रास नहीं, उल्लास नहीं। सभी जानते हैं कण-कण जल से छोटी-छोटी जल की राशि बनती है। गड्ढा, कूप, तालाब तथा नदी सभी में जल होता है, सभी से प्यास बुझती है, सभी जीवों का जीवन है, किन्तु यह समस्त जल-जल की महाराशि समुद्र से आता है, अन्त में किसी

न किसी मार्ग से वहाँ चला जाता है इसी प्रकार संसार में जो हमें यह आनन्द रस अथवा प्रेम दिखायी देता है, यह सब श्रीराधाकृष्ण महासागर के कुछ कण हैं, वह दिव्यआनन्द दिव्य लोक में निरन्तर उमड़ता रहता है। उसका आदि नहीं, अंत नहीं, अवसान नहीं। ऐसे ही वह हिलोरें लेता है।

दिव्यलोक में निरन्तर रास विलास करते-करते श्रीराधाजी के मन में एक पुत्र पैदा करने की इच्छा उत्पन्न हुई। "समस्त इच्छाओं से परिपूर्ण श्रीराधाजी के मन में इच्छा क्यों उत्पन्न हुई जी ?" बस, तुम क्यों का प्रश्न न किया करो। क्रीड़ा केवल आनन्द के ही निमित्त होती है, इसका कोई अन्य उद्देश्य नहीं होता। क्रीड़ा ही क्रीड़ा में हो गयी इच्छा। इच्छा होते ही पुत्र हुआ। परम सुन्दरी का पुत्र भी परम सुन्दर हुआ। एक दिन उसने जम्हाई ली। उसके पेट में पञ्चभूत, आकाश, पाताल, वन, पर्वत, वृक्ष, महत्तत्व, अहङ्कार, प्रकृति पुरुष सभी दिखायी दिये। उसके मुख में ऐसी अलाइ-बलाइ देखकर सुकुमारी राधिकाजी को बड़ा बुरा लगा। कैसा विराट् छोकरा हुआ। उन्होंने नारजल में उसे रख दिया। वही विराट् पुरुष हुआ। उसी से समस्त ब्रह्माण्डों की उत्पत्ति है। श्रीकृष्ण ने शाप दिया—"अब तुम्हारे बच्चा न होगा। तुम अनपत्या रहोगी। तभी से राधिकाजी का नाम कृशोदरी पड़ा। इनका पेट कभी बढ़ता नहीं।

एक दिन श्रीराधाजी श्रीकृष्णचन्द्रजी से रूठ गयीं। 'रूठी क्यों जी ?' फिर वही क्यों वाली बात। अजी, रूठना भी एक लीला है। प्रेम के रूठने में बड़ा आनन्द आता है। श्रीकृष्ण उन्हें पैर पकड़कर मनाने लगे। नहीं मानी नहीं मानी। तब सुदाम गोप ने समझाया "क्यों इतनी अकड़ रही हो, हो गया सो हो गया। अब मान जाओ।" आज तो उन्हें दूसरी लीला करनी थी। सुदाम को शाप दिया—"तू भरत खण्ड में जाकर

असुर हो जा।" बदले में उसने भी कहा—"तुम भूमि पर गोप-कन्या हो जाओ।" तभी से श्रीराधिकाजी वृषभानु गोप के यहाँ कीर्तिदेवी से प्रकट हुईं।"

श्रीकृष्णजी से ११ महीने पन्द्रह दिन पूर्व भाद्र शुक्ला अष्टमी को वृषभानुनन्दिनी का गोकुल के समीप रावल में प्रादुर्भाव हुआ। बिना राधे के श्रीकृष्ण तो आधे भी नहीं, देवर्षि नारदजी जब श्रीकृष्ण जन्म के अवसर पर भगवान् के दर्शन करने आये थे, तब उन्होंने स्वयं ही सोचा था—"जब ब्रज में गोलोकविहारी का जन्म हुआ है, तो उनकी शक्ति गोलोकविहारिणी ने भी अवश्य ही यहीं कहीं किसी गोप के यहाँ जन्म ग्रहण किया होगा, अतः वे वृषभानुजी के भवन में गये। वहाँ श्रीराधिकाजी को गोलोकविहारिणी समझकर स्तुति की। तब उन्होंने अपने नित्य किशोरी रूप से दर्शन दिये। वे चौदह वर्ष की दिव्य सुकुमारी अलौकिक शोभायुक्त सुन्दरी देवी बन गयीं। इससे यही सिद्ध होता है, कि ये जन्म लेना, शिशुक्रीड़ा करना केवल लोगों के सम्मुख जवनिका मात्र है। इनमें न घटाव है न बढ़ाव, दोनों ही नित्य किशोरावस्थापन्न रहते हैं। निरन्तर रास विलास में मग्न रहना ही इनका काम है। सृष्टि, स्थिति तथा संहार आदि के कार्य त्रिदेव करते रहते हैं। असुर आदिकों का संहार भी विष्णु का कार्य है। श्रीकृष्ण का तो एकमात्र कार्य अपनी शक्ति के सहित निरन्तर क्रीड़ा करते रहना ही है। कभी-कभी वह दिव्यलोक की लीला इस मर्त्यलोक में भी होने लगती है। वही लोक ज्यों-का-त्यों यहाँ प्रकट हो जाता है। वह प्रकट लीला भी दो प्रकार की होती है, बाह्य और आन्तरिक। बाह्य लीला के भी तीन भेद हैं, गोष्ठलीला, वनलीला और कुञ्जलीला। आन्तरिक लीला निकुञ्जलीला है। उसमें सब सखियों का भी प्रवेश नहीं। उसमें कुछ अत्यन्त अन्तरंग सखियाँ ही सम्मिलित हो

सकती हैं। शेष गोष्ठ और वन की लीलाओं में महाभाग्यशाली गोपों का, गोपियों का, सभी का प्रवेश है, वह जगत् के आनन्द की वृद्धि करने वाली हैं। वर्णन जहाँ होगा, वहाँ बाह्य लीलाओं का ही होगा। आन्तरिक लीलाओं का कुछ थोड़ा बहुत कोई वर्णन कर भी सकता है, तो भीतर का भेदिया ही कर सकता है।

ब्रह्मवैवर्त पुराण में ऐसा उल्लेख है, कि नन्दजी एक दिन वन में श्यामसुन्दर को लिये हुए थे, उस समय श्रीराधाजी उनके समीप आयीं। नन्दजी ने दिव्य दृष्टि से सब समझ लिया, यह इनकी नित्याशक्ति हैं, अतः बालकृष्ण को श्रीराधाजी की गोदी में दे दिया। वे उन्हें लेकर वन में गयीं। तब भगवान् ने बालरूप त्यागकर नित्यकिशोर रूप धारण किया। ब्रह्माजी ने आकर दोनों का वैदिक विधि से विवाह कराया। फिर भगवान् बालक बन गये। तब श्रीराधाजी उन्हें नन्दजी को दे गयीं। इन सबसे यही जताना है, कि ये दोनों नित्य किशोर हैं, एक दूसरे के प्राण हैं। ये कभी विलग नहीं हो सकते, किन्तु कुछ काल में दोनों ही इन बातों को भूल गये। "सर्वशक्तिमान् होकर भूल क्यों गये जी ?" अपनी शक्ति से ही भूल गये। भूल भी तो उन्हीं की शक्ति है, उसका भी तो उपयोग होना चाहिये। योगमाया को जो उन्होंने बीच में खड़ी कर रखा है। जो भी लीला करते हैं, योगमाया का आश्रय लेकर करते हैं। इस प्रकार श्रीनन्दनन्दन आनन्दकन्द कृष्णचन्द्र नन्दभवन में बढ़ने लगे और वृषभानु-नन्दिनी सर्वेश्वरी श्रीराधा वृषभानुजी के भवन को आलोकित करती हुई सबको सुख देने लगीं। इस प्रकार वे ५-६ वर्ष की हो गयीं और श्यामसुन्दर ४-५ वर्ष के।

प्रथम मिलन

श्रीकृष्ण बड़े चंचल हैं, माखन चुरा-चुराकर खाते हैं, गोपियों को छकाते हैं, यह बात ब्रज में सर्वत्र फैल गयी। श्रीराधाजी

भी इन सब बातों को सुनतीं। न जानें क्यों, श्रीकृष्ण का नाम सुनते ही, उनके अंग-अंग में सिहरन उठने लगती। वह नाम उन्हें अत्यन्त ही प्यारा लगता। श्रीकृष्ण की जहाँ चर्चा चलती, वहाँ उनके लोभी कान मधुलोलुप भ्रमर की भाँति चिपक जाते। 'कृष्ण कृष्ण' कितना सुन्दर, कितना मधुमय, कितना श्रुतप्रिय सुखदायक नाम है। कभी-कभी वे कदम्ब के ऊपर से वंशी की मधुर ध्वनि सुनतीं। सयानी-सयानी गोपिकाएँ कहतीं—"यह नन्द का लाला वंशी बजा रहा है।"

श्रीराधाजी के हर्ष का ठिकाना नहीं रहता। 'हाय! जिसका इतना सुन्दर मधुमय नाम है, वह इतनी सुन्दर वंशी भी बजा लेता है क्या?" इस प्रकार उनका प्रेम वंशी ध्वनि को सुनकर और भी अधिक बढ़ता। स्वाभाविक प्रेम में अवगुण दिखायी ही नहीं देते। प्रेम की यह मोटी पहिचान है, जिसमें भी अवगुण दिखायी दे, उसमें प्रेम का अभाव ही समझना चाहिये। यह नहीं प्रेम में अवगुण भी गुण ही दिखायी देते हैं। गुणों की तो बात ही क्या? किसी कृष्णभक्त ने किन्हीं रामभक्त संत से कहा—"आप श्रीकृष्ण की उपासना क्यों नहीं करते? श्रीकृष्ण तो सोलह कला परिपूर्ण अवतार हैं। श्रीरामचन्द्रजी तो द्वादश कला के ही अवतार हैं।" यह सुनकर वे संत चौंककर बोले—"क्या कहा, श्रीरामचन्द्रजी बारह कला के अवतार भी हैं क्या? हम तो अब तक कौशलकिशोर दशरथनन्दन मानकर ही उनकी भक्ति करते थे। अब आपके मुख से अवतार सुनकर हमारी भक्ति और भी दृढ़ हो गयी"। सारांश यह कि मदनमोहन मनोहर मुरली बजाते हैं, इसलिये राधाजी का उनकी ओर आकर्षण हुआ हो, सो बात नहीं, उनका उनके प्रति स्वाभाविक सहज स्नेह हो गया था, नाम श्रवण से वह बढ़ गया था और मुरली ध्वनि से वह पराकाष्ठा को पहुँच गया था।

एक दिन यमुना किनारे राधाजी आयीं। छोटी-सी भोरी-सी

गोरी-सी बड़ी सुन्दरी, अर्धस्फुटित कलिका के समान, नीली साड़ी ओढ़े हुए सकुचाती हुई अपने में ही अंगों में सिमिटी-सी वे बड़ी ही भली लगती थीं। संयोग की बात, कि वे अकेली ही थीं। सहसा श्यामसुन्दर आ गये। चार पाँच वर्ष के बालक कछनी काँछे, मोरमुकुट बाँधे, मुरली हाथ में लिये हुए वृषभानुनन्दिनी के आगे खड़े हो गये। दो-दो आँखें मिलकर चार हो गयीं। दोनों ही सुधि-बुधि भूल गये। श्यामसुन्दर ने पूछा—"लली! तुम कहाँ रहती हो?"

"हम बरसाने रहते हैं जी?" वीणा विनिन्दित स्वर में किशोरीजी ने कहा।

"मैंने पहिले तो तुम्हें कभी नहीं देखा था, तुम्हारे पिता का नाम क्या है?" श्यामसुन्दर ने पूछा।

सकुचाती हुई चकित-चकित दृष्टि से मदनमोहन के मुखारविन्द मधु का अपनी आँखों से पान करती हुई वृषभानुलली बोलीं—"मैं अपने पिता का नाम नहीं लूँगी। वे वहाँ के राजा हैं। बैल और सूर्य पर उनका नाम है।"

आश्चर्य प्रकट करते हुए श्रीकृष्ण बोले—"ओहो! तुम वृषभानुनन्दिनी हो, तुम्हारा नाम राधा है।"

एक अजनवी किन्तु आकर्षक छोकरे के मुख से अपना नाम सुनकर उनके हृदय में गुदगुदी-सी होने लगी। सम्भ्रम के साथ उन्होंने कहा—"तुम कौन हो जी, मेरा नाम तुम कैसे जानते हो?"

श्यामसुन्दर का अन्तःकरण ही नहीं खिल रहा था, उनके रोम-रोम से आनन्द फूट रहा था, मुखमण्डल मोद के कारण विकसित हो रहा था। अपनी मंद-मंद मुसकान की किरणों को उनके कपोलों पर पड़ी कानों की कुण्डल की आभा में हिलाते हुए मदनमोहन बोले—"तुम्हारे रूप की ख्याति तो समस्त ब्रज-

मण्डल में फैली हुई है, तुम्हारा नाम भला ऐसा कौन अभागी होगा, जो न जानता होगा। मेरा नाम कृष्ण है, मैं नन्दरायजी का पुत्र हूँ।"

राधाजी का हृदय बाँसों उछल रहा था। वे एक हाथ से उसे कसकर थामे हुई थीं। अपने आन्तरिक भावों को छिपाने का वे सतत प्रयत्न कर रही थीं। वे बिना ही विचारे आपसे आप कह उठीं—"ओहो! मैं भी सुना करती थी, श्यामसुन्दर बड़े चोर हैं?"

हँसकर श्यामसुन्दर बोले —"तुम्हारा मैंने क्या चुराया जी! बड़े घर की बेटी होकर ऐसी बुरी बात अपने मुख से निकालती हो? मुझे चोर बताती हो?"

भोरी-भारी सुकुमारी राजकुमारी डर गयीं, उन्हें अपनी भूल पर पश्चात्ताप हुआ—"हाय, मेरे मुख से यह क्या निकल गया। चोर तो ये हैं ही, प्रथम दृष्टि में ही मेरा मन चुरा लिया, किन्तु अप्रिय सत्य को भी प्रकट न करना चाहिये। वे कुछ कह न सकीं। उन्होंने कहा—"मैं जाती हूँ।"

श्यामसुन्दर सिटपिटा गये। अरे, यह तो रंग में भंग हुई। उन्होंने सम्पूर्ण ममता बटोर कर कहा—"जाती क्यों हो, तनिक ठहरो। बुरा मान गयीं क्या? मैंने तो हँसी में कह दी। हाँ सब लोग मुझे माखनचोर माखनचोर कहते हैं। यद्यपि मैं किसी का चुराता-फुराता नहीं, किन्तु जिसका नाम निकल जाय। तुमसे भी किसी ने कह दिया होगा। चलो, थोड़ी देर यमुना किनारे मिलकर खेलें।"

राधिकाजी ने मन में सोचा—"यह नन्द का छोरा जितना ही आकर्षक है उतना ही ढीठ है। कितने प्यार से बोलता है, इसकी वाणी में कितनी मोहकता है, किन्तु वे लज्जावश श्याम

को बातों का उत्तर न दे सकीं। वे बोलीं—"मेरी माँ बिगड़ेगी, इसलिये अब मुझे जाने दो, फिर मैं कभी आऊँगी।"

श्याम ने इधर-उधर देखकर उनकी नीली रेशमी साड़ी पकड़ ली और बोले—"मेरी शपथ खाओ, कि फिर आओगी।"

राधिकाजी ने साड़ी छुड़ाने का प्रयत्न नहीं किया। अपने बड़े-बड़े विशाल कजरारे नयनों से शंकित दृष्टि से इधर-उधर देख कर बोलीं—"छोड़ दो, छोड़ दो। हाँ मैं अवश्य आऊँगी।"

"कल आवोगी इसी समय" श्याम ने बात पर बल देकर कहा।

शंकित चित्त से वृषभानुनन्दिनी ने कहा—"अब कल की तो नहीं कह सकती। मैं तुम्हारी भाँति छोरा तो हूँ नहीं, छोरी हूँ। माता से पूछकर, किसी को साथ लेकर, कोई बहाना बनाकर तब आना होता है।"

श्यामसुन्दर बोले—"तुम्हारा खिरक और हमारा खिरक पास ही पास तो है, माता से कह देना गौओं को दुहने जाती हूँ।"

शीघ्रता से किशोरीजी बोलीं—"अब तुम मुझे छोड़ दो, तुम्हें यह सब सिखाना न होगा, मैं सब अपने आप कोई युक्ति सोच लूँगी।"

श्याम ने झटककर उनकी नीली साड़ी खींच ली। नागिन की भाँति उनकी चोटी फहराने लगी। वे कुपित होकर बोलीं—"तुम बड़े नटखट हो जी! ऐसी छेड़-छाड़ करोगे, तो फिर मैं न आऊँगी।" आपने तुरन्त भूल में अपना पीताम्बर उन्हें उढ़ा दिया। यद्यपि वे मुख से तो बातें कर रही थीं, किन्तु उन्हें तन-मन की सुधि-बुधि नहीं थी। उन्हें यह पता ही न चला कि यह नीली साड़ी है या पीताम्बर है। इधर श्रीकृष्ण ने भी जान बूझ-कर ऐसा नहीं किया था। किशोरीजी लैंया पैंया गोष्ठी की ओर

भाग गयीं। श्यामसुन्दर लुटे व्यापारी की भाँति खड़े-खड़े उनकी शोभा को निहारते रहे। जब वे आँखों से ओझल हो गयीं, तो कुछ खोये हुए व्यापारी की भाँति लौटकर घर आये। आते ही मैया ने कहा—"अरे, कनुआ! तू यह किस छोरी की ओढ़नी ओढ़ आया रे! अरे, पगले! अब तू छोरा से छोरी हो गया?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! पुरुष के मन में जब स्त्री का चिंतन होता है, तो तदाकार स्त्री रूप हो जाता है, इसी प्रकार स्त्री जब पुरुष का चिन्तन करती है, तब वह पुरुष रूप हो जाती है। बिना देवता बने देवपूजन होता नहीं। मनुष्य जिसका चिन्तन करता है उसी का रूप हो जाता है। इसीलिये राधाजी श्रीकृष्ण का चिन्तन करते-करते अपने को श्रीकृष्ण कहने लगती हैं और श्रीकृष्ण राधा का चिन्तन करते-करते उन्हीं के भावों का अनुकरण करने लगते हैं। अपने शरीर पर राधाजी की साड़ी देखकर माता के सामने श्याम सिटपिटा गये। बात बनाते हुए बोले—"मैया! आज एक बड़ी भारी घटना हो गयी।"

माता ने आश्चर्य के साथ पूछा—"क्या घटना हो गई बेटा?"

आप भोली सूरत बनाकर बोले—"देख, मैया! अपनी वह जो मरखनी गैया है, वह बिदुक गयी। वह एक छोरी की साड़ी सींग में लगाकर भाग गयी। छोरी रोने लगी, तो मैंने उसे अपना पीताम्बर उढ़ा दिया। गौ से छुड़ाकर मैं यह उसकी साड़ी लाया हूँ। खोने का डर नहीं है। मैं तो उसे जानता हूँ। कालिह मैं उसकी साड़ी उसे दे आऊँगा। अपना पीताम्बर ले आऊँगा।"

मैया ने कहा—"अच्छा किया भैया! अब छोरी के ओढ़े हुए को तू क्या करेगा लाकर। मेरे यहाँ पीताम्बरों की कमी थोड़े ही है, तुझे और नया निकाले देती हूँ।" यह कहकर मैया ने

दूसरा पीताम्बर दे दिया। श्यामसुन्दर ने उस साड़ी को कृपण के धन की भाँति छिपाकर सुरक्षित रख दिया।

इसी प्रकार जब देर होने के कारण डरती हुई, कीर्तिकिशोरी ने घर के भीतर पैर रखा, तो उसी समय बड़ी देर से क्रुद्ध बैठी हुई माता ने डाँटकर कहा—"कौन राधा! अब तू बड़ी स्वतन्त्र हो गयी है। लोकलाज, कुललाज सब खो दी है। बड़े घर की बेटी को ऐसे अकेले घूमना चाहिये? कोई क्या कहेगा, मेरे यहाँ सेवक नहीं, सेविकाएँ नहीं। तू कहाँ गयी थी? कितनी देर हो गयी। अभी तक कुछ खाया भी नहीं।" इस प्रकार न जाने मैया क्या-क्या अंटसंट बहुत देर तक बकती रहीं। जब उसने श्रीजी के शिर पर पीत पट देखा तब तो वह और क्रुद्ध हुई और डाँटने लगीं।

उस समय बड़े-बड़े नेत्रों से आँसू बहाते हुए कोप में भरकर कीर्तिलली ने कहा—"मैया! तू मेरी तो कुछ सुनेगी नहीं। अपनी ही कहती जायगी। मुझे पता नहीं था। मुझे कारावास की भाँति सदा घर में बन्द रहना चाहिये। अभी कुछ देर हुई ललिता के साथ मैं खिरक देखने गयी थी। गौओं को देखा न कोई दुहता है, न कोई गोबर उठाता है। गौओं के नीचे घोंटू-घोंटू कीच हो रही है। वहाँ से यमुना किनारे चली गयी। वहाँ बहुत-सी गोपियाँ थीं, कोई नहा रहीं थीं, कोई जल भर रहीं थीं। मैं भी नहाने लगी। नहाकर ज्यों ही मैं निकलकर अपना लँहगा पहिनने लगी, त्यों ही वहाँ एक कारियल भुजंग सर्प आया। आते ही उसने मेरे पास की एक गोपी को चट्ट से डस लिया। मैं डरकर भागी। मैं तनिक-सी ही बच गयी, नहीं वह मुझे भी काट लेता। उसी हड़-बड़ी में मेरी ओढ़नी यमुनाजी में बह गयी। वह गोपी मूर्छित होकर गिर गयी।"

माता का सब रोष कपूर की भाँति उड़ गया। यह बोली—

"हाय ! बेटी ! भगवान् ने ही तुझे बचाया। वह गोपी मर गयी या जीती रही।"

मन-ही-मन प्रसन्न होकर लाड़िलीजी कहने लगीं—"सुन तो सही मैया ! उसी समय एक कोई कारो-सो छोहरा वहाँ आ गया- मैं तो उसे जानती नहीं थी, उसने बाबा का नाम ले दिया और मुझे खुले सिर देखकर यह पीला कपड़ा ओढ़ने को दे दिया। मैं लेती नहीं थी, किन्तु सबने कहा—"लैले, लैले, कोई बात नहीं। यह तो नन्दकुमार है।" अम्मा ! वह छोरा बड़ा जादूगर है। उसने उस गोपी के कान में ऐसा मन्त्र फूँका, कि वह तुरन्त उठ कर खड़ी हो गयी और हँसने लगी। मैं तो नारायण की ही कृपा से बच आयी।"

यह सुनकर मैया ने श्रीराधाजी को पकड़कर छाती से चिपटा लिया। गोद में बिठाकर मुख चूमकर सिर पर हाथ फेरती हुई बोलीं—"भगवान् ने बड़ी कृपा की, बेटी ! मैं तो डर रही थी तू कहाँ चली गयी।"

मैया को अपने अनुकूल देखकर श्रीजी ने कहा—"मैया ! यह कारो-सो छोहरा किनका है, वह बार-बार मुझसे कहता था, हमारे घर खेलने आना, हमारे घर खेलने आना। मैंने तो कुछ कहा नहीं।"

मैया ने कहा—"बेटी ! वह नन्दराय का ढोटा है। उसका नाम है कृष्ण। वह बड़ा नटखट है। यशोदा रानी से मेरा भायेला है। उनके यहाँ जाने में कोई बात नहीं। वह अपना घर ही है। अब इस पीताम्बर को तैंने ओढ़ लिया। कल एक नया उनके यहाँ दे आना।" सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! यहीं से श्रीकृष्ण प्रेम का आरम्भ होता है। वैसे तो इन दोनों में सनातन का प्रेम है उसमें न आरम्भ है न अन्त, किन्तु लौकिक दृष्टि से इसका नाम पूर्वानुराग है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! अब दोनों ओर से नित्य प्रति मिलन की उत्कट इच्छा बनी रहने लगी। दोनों ही निरन्तर मिलन के अवसर खोजने में लगे रहते। जब भी अवसर मिलता किसी भी बहाने से मिल जाते। कभी श्रीकृष्ण अनेक रूप रख-कर राधाजी के अन्तःपुर में चले जाते, कभी राधाजी अनेक रूप रखकर श्रीकृष्ण को संभ्रम में डालतीं। स्नेह बढ़ने लगा, उसने मान का रूप धारण किया फिर वही प्रणय रूप में परिणत हो गया। राग, अनुराग, भाव तथा महाभाव ये स्नेह की क्रम-क्रम से सीढ़ियाँ हैं। राधा श्रीकृष्ण की प्राणेश्वरी हैं, हृदयेश्वरी हैं। उनके बिना श्रीकृष्ण रह नहीं सकते।"

छप्पय

दिव्य लोकतैं धरनि धामपै राधा आईं।
निज परिकर पुर लाइ अवनिकूँ दई बड़ाई॥
धनि-धनि श्रीवृषभानु कीर्ति जननीहू धनि-धनि।
जिनकी दुहिता बनी राधिका विहरैं भवननि॥
यह अवनी पावन बनी, राधा पदरज परसिकें।
जिहि रज सुरगन, इन्द्र अज, शिव सिर धारहिं हरषिकें॥

—o—

निरस्तसाम्यातिशया श्रीराधा

(६७६)

नमो नमस्तेऽस्त्वृषभाय सात्वताम्
विदूरकाष्ठाय मुहुः कुयोगिनाम् ।
निरस्तसाम्यातिशयेन राधसा
स्वधामनि ब्रह्मणि रंस्यते नमः ॥*

(श्रीभा० २ स्क० ४ अ० १४ श्लो०)

छप्पय

राधा रसकी खानि सरसता सुखकी बेली।
नन्दनँदन मुखचन्द्र चकोरी नित्य नवेली॥
नित नव नव रचि रास रसिक हिय रस बरसावे।
केलि कलामहँ कुशल अलौकिक सुख सरसावे॥
गोरी भोरी सुन्दरी, रामा सुषमा श्याम की।
सती शिरोमनि स्वामिनी, श्रीवृन्दावन धाम की॥

जो चराचर विश्व के एकमात्र स्वामी हैं जिनकी भ्रुकुटि विलास से यह सब प्रपञ्च पसरा हुआ है उनके लिये क्या स्वकीय

---

* श्रीशुकदेवजी भगवान् की स्तुति करते हुए कह रहे हैं—"जो भगवान् ऐकान्तिक भक्तजनों के रक्षक हैं तथा कुयोगियों की जो दृष्टि से दूर है, जो अपने अक्षर ब्रह्मधाम में विराजकर, जिसके समान अथवा जिससे अधिक किसी का ऐश्वर्य नहीं उन शक्ति श्रीराधाजी के साथ जो रमण करते हैं, उन श्रीहरि को बारम्बार नमस्कार है।"

क्या परकीय, पर उनके लिये कोई है ही नहीं। सब 'स्व' ही 'स्व' है। अपने स्वधाम में स्थित होकर वे क्रीड़ा कर रहे हैं, रस बरसा रहे हैं, सुख सरसा रहे हैं। स्वयं ही तरल बनकर रस रूप हो जाते हैं और उसका आस्वादन करते हैं। जैसे अपने प्रतिबिम्ब के साथ क्रीड़ा करने को अपने ही मुख को सजाते हैं। अपनी ही मुख श्री को बढ़ाते हैं फिर दर्पण में सजे हुए अपने प्रतिबिम्ब को देखकर सिहाते हैं। उनकी न कोई परकीया है न स्वकीया। दोनों भावों से रहित वे सच्चिदानन्द रस रूप आनन्द के निलय निखिल गुण-गणार्णव तथा भावरस सिन्धु हैं। क्रीड़ा के निमित्त जितनी भी शक्तियों का सृजन करते हैं, वे सब स्वकीया हैं। धर्माविरुद्ध काम में स्वकीया भाव सर्वश्रेष्ठ है तथा धर्मविरुद्ध काम में परकीया भाव अत्यन्ताकर्षक और परम सुख-कर माना गया है। श्रीभगवान् की क्रीड़ा धर्म अधर्म दोनों से परे की होती हैं। वे तो विशुद्ध रसरूपा आनन्द वर्षिणी विमल प्रेमप्रवाहिनी होती हैं। लौकिक भावों से उनकी समता नहीं, उपमा नहीं, फिर भी उनका वर्णन लौकिक भाषा में करना है, अतः लौकिक उदाहरण देने पड़ते हैं।

लोक में देखा गया है, प्रेम का जितना ही छिपकर अत्यन्त प्रतीक्षा के अनन्तर रहस्यमय भाव से आस्वादन किया जाता है, उतना ही वह आकर्षक और चित्तोल्लासकारक होता है। जितनी ही विघ्नबाधाओं के अनन्तर मिलन होगा, उतना ही उसमें स्वारस्य बढ़ेगा। अपने घर की प्रेयसी तो अपनी है ही, उसके पाने में कोई प्रयत्न नहीं, कोई असुविधा नहीं, किन्तु परकीया से प्रेम करने में कितनी प्रतीक्षा करनी पड़ती है, चित्त में कितनी निरन्तर उत्कंठा बनी रहती है, इसका अनुभव जार ही कर सकते हैं। "परकीया भाव में अत्यधिक आकर्षण है।" केवल एता-वन्मात्र दिखाने के निमित्त ही कुछ वैष्णवगण श्रीराधाजी के

प्रेम में परकीया भाव की कल्पना करते हैं। इस विषय में एक दृष्टान्त है। एक कोई भगवद्भक्त थे, उनकी सती साध्वी पतिपरायणा पत्नी थी। एक दिन वह यमुना किनारे जल भरने गयी, संयोग की बात, कि उसी समय उसके पति को भी किसी कार्यवशात् यमुनाजी की ओर जाना पड़ा। आज उनकी पत्नी ने विचित्र शृङ्गार किया था। दूर से देखकर वे उसे पहिचान नहीं सके। उनके मन में उस अत्यन्त रूप लावण्यवती युवती के दर्शनों की उत्कट इच्छा हुई। वे उसे देखने को शीघ्रता से आगे बढ़े। आगे बढ़कर देखते हैं, यह तो अपनी धर्मपत्नी है यह देखकर उन्हें बड़ी लज्जा आयी। वे सिर नीचा किये हुए चले गये।

अब यहाँ इसी भाव पर विचार करना है उत्कण्ठा परकीया में ही अधिक हुई। यह उत्कण्ठा धर्मपूर्वक है या अधर्मपूर्वक यह प्रश्न हम प्राकृत जीवों के लिये है और होना ही चाहिये। जो प्रकृति से परे की लीला हैं, उनमें तो प्रेम धर्म एक विलक्षण ही धर्म है। जो परकीया भाव से श्रीराधाकृष्णकेलिका रसास्वादन करते हैं, उनका एकमात्र भाव अत्युत्कण्ठापूर्वक आनन्दानुभूति से ही है। भगवान् व्यास को भी जब दूसरा कोई अत्युत्तम उदाहरण कथा श्रवण वालों के लिये नहीं मिला तो उन्हें भी यही कहना पड़ा "स्त्रिया विटानामिव साधुवार्ता" जैसे जारों को स्त्रियों के सम्बन्ध की बातें अत्यन्त रसीली आकर्षक लगती हैं, वैसे ही भगवद्भक्तों को भगवान् की लीलाएँ नित्य नयी-नयी-सी-लगती हैं। यहाँ परकीया से अत्यन्त उत्कण्ठा और तन्मयता के साथ रतिसुख की अनुभूति में है। नहीं जो श्रीहरि चराचर विश्व के स्वामी हैं उनका पर कौन हो सकता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब श्रीराधाजी का श्रीकृष्ण के प्रति और श्रीकृष्ण का राधाजी के प्रति नित्य नव-नव अनुराग बढ़ने लगा। यह प्रेम प्रवाह होता है, कि इसमें नित्य-नित्य वृद्धि

ही होती रहती है, ह्रास तो इसमें कभी होता नहीं। कहाँ तक बढ़ता है, इसकी कोई सीमा नहीं असीम है, अनन्त है, अपार है, अज्ञेय है, बढ़ता ही जाता है, बढ़ता ही जाता है, बढ़ते रहना ही इसका व्यापार है।

रेशमी पीताम्बर लेकर भोरी-भारी राधा चकित-चकित दृष्टि से इधर-उधर देखती हुई नन्दभवन के द्वारपर खड़ी हो गयीं। अब उनकी दशा विचित्र थी। संकोच उन्हें भीतर जाने से रोकता था और चित्त बार-बार आग्रह करता था, चलो, भीतर चलो। श्यामसुन्दर अपनी माता से कुछ प्रेम कलह कर रहे थे, किसी बात पर मचल रहे थे, उनके मधुमय वचन बाहर सुनायी दे रहे थे, उन्होंने वृषभानुनन्दिनी के पैर वहाँ चिपका दिये थे। लोभी कान उन्हीं में तन्मय हुए टकटकी लगाये हुए थे। सहसा उनके मुख से अपने आप ही निकल गया—"श्यामसुन्दर! यह तुम्हारा पीताम्बर है।"

श्यामसुन्दर तो आज प्रातःकाल से ही चौकन्ने हो रहे थे। न जाने कै बार बाहर गये और आये। एक अद्भुत परमश्रुत मधुर शब्द सुनकर वे सब कुछ भूलकर द्वार पर दौड़े आये। सहसा उन्हें देखकर राधाजी सहम गयीं। वे बोलीं—"लो, यह तुम्हारा पीताम्बर है, कल भूल से चला गया था।"

श्यामसुन्दर ने पीताम्बर के ही वर्ण के उनके अत्यन्त कोमल कर को पकड़ते हुए कहा—"यह मेरा पीताम्बर तो है नहीं।"

अत्यन्त लजाते हुए सुकुमारी कीर्तिकुमारी ने कहा—"मैया ने कहा है, पुराना क्यों देगी, जा नया दे आना।"

संभ्रम के साथ श्यामसुन्दर ने पूछा—"तुमने कल की बात मैया से कह दी क्या?"

विवशता से स्वर में श्रीराधा बोलीं—"मैं क्या करती कल भूल

से तुम्हारा पीताम्बर मेरे साथ चला गया। जब उसने पूछा तो मुझे सच बात कहनी ही पड़ी। झूठ कैसे बोलती।"

श्यामसुन्दर बोले—"तब तुम भी मेरी मैया के पास चलो, तुम्हें भी मेरी मैया नयी साड़ी देगी।"

आग्रह के साथ श्रीजी बोलीं—"ना, मैं भीतर नहीं चलूँगी। मुझे बड़ी लज्जा लगती है, अब मुझे जाने दो।" यह कहकर वह पीताम्बर को श्याम के ऊपर फेंककर भगीं। श्यामसुन्दर ने सम्पूर्ण बल लगाकर उन्हें पकड़ लिया और आग्रह करते हुए बोले—"नहीं, यह नहीं होने का, तुम्हें मेरी शपथ है, मैया के पास चलना ही होगा। परवश हुई हरिनी की भाँति कीर्ति-किशोरी खड़ी हो गयीं। संकोच के कारण उनके अरुण कपोल और अरुण हो गये थे। वे न भीतर जाना चाहती थीं और न श्याम को छोड़ने को चित्त कहता था। अन्त में वे श्याम के आग्रह को टाल न सकीं। श्याम उनका हाथ पकड़े ही पकड़े भीतर ले गये। वे छाया की भाँति विवश बनी चलीं गयीं।

श्यामसुन्दर ने शीघ्रता के साथ कहा—"मैया! मैया! यही वह छोरी है, जिसे मैंने कल पीताम्बर उढ़ा दिया था। आज इसकी मैया ने मेरे पुराने पीताम्बर के बदले, नया कैसा सुन्दर जड़ाऊ पीताम्बर भेजा है। देख तो सही कैसा अच्छा है।" यह कहकर श्यामसुन्दर ने पीताम्बर मैया की गोदी में फेंक दिया। मैया ने पीताम्बर को देखा तक नहीं। उसकी दृष्टि पीताम्बर लाने वाली सुवर्ण की प्रस्फुटित कली के समान श्रीराधाजी के मनोहर मुखारविन्द पर गड़ गयी थी। वे उनके सौन्दर्य माधुर्य को देखकर मंत्रमुग्ध-सी हो रहीं थीं। मैया ने व्यङ्ग के स्वर में कहा—"लली! यह तो मुझे पता है, तेरी मैया रानी है, उनके बहुत धन सम्पत्ति है, किन्तु भीख माँगने वालों को देनी चाहिये। जब तेरी मैया को वस्त्र हीं भेजने थे, तो गाड़ी

दो गाड़ी भेजती। एक पीताम्बर पर हम क्या धर्म बिगाड़ें।"

श्रीराधाजी ने मैया की बात का कुछ भी उत्तर न दिया। वे लजाती हुईं भूमि की ओर देखती हुईं चुप-चाप खड़ी रहीं। बीच-बीच में कनखियों से श्यामसुन्दर को बड़े कौशल से मैया की दृष्टि बचाकर देख लेती थीं। मैया ने जब देखा, लड़की अत्यन्त सकुचा रही है, तो उन्होंने उठकर उसे पकड़कर छाती से चिपटा लिया। मुख चूमकर अपनी गोद में बिठाकर कहा—"तेरी मैया ने मेरे लिये कुछ नहीं भेजा?"

श्रीराधा मैया की गोदी में सिर नीचा किये बैठी रहीं। मैया ने अपने लाल-लाल भारी हाथों की गुदगुदी गद्दी से उनकी ठोढ़ी को ऊपर उठाते हुए कहा—"बता तेरा क्या नाम है।"

श्रीजीने कंपित स्वर में संकोच के साथ हौले से कहा—'राधा'।

"राधा, राधा" कैसा अच्छा नाम है। कैसी भोली-भाली लड़की है।" मैया ने अपने आप ही ये शब्द कह दिये। उनका हृदय उमड़ रहा था। वे कुछ कहना चाहती थीं, किन्तु क्या कहें? यह सब सोचने का उन्हें अवकाश नहीं था, जो मुँह में आ जाता, उसे ही बिना विचारे कहने लगतीं—"कीर्तिरानी ने लल्ला के लिये नया पीताम्बर भेजा है। उसे लौटाती हूँ, तो भी अपशकुन है, घर आयी लक्ष्मी को लौटाना उचित नहीं।" फिर मन-ही-मन सोचने लगीं—"यह तो मेरी बहू बनती तो मेरे जीवन की सभी साध पूरी हो जाती। कैसी मलूक छोरी है, कैसी भोरी-भारी है।" फिर राधाजी से बोलीं—"तेरी मैया तो बड़ी भौंड़ी है! क्यों लली है न? वह है तो रानी, किन्तु बड़ी फूहरिया है। देख तेरे बालों को भी वह अच्छी तरह नहीं बाँधती। आ बेटी! तेरी चोटी कर दूँ।"

श्रीराधाजी नहीं चाहती थीं, वे यशोदा मैया से चोटी करावें, किन्तु करें क्या लड़कियों को तो कुछ कहने का अधिकार ही नहीं। वे या तो 'हाँ' कह सकती हैं या रो सकती हैं। मैया ने बिना उनके उत्तर की प्रतीक्षा के उनके सिर की ओढ़नी अलग कर दी। बँधे हुए बालों को खोल दिया। तेल कंघी ले आयीं। अपनी गोदी में बिठाकर वे उनकी चोटी करने लगीं। मोतियों से उनकी माँग को सजाया। भाल के ऊपर सुन्दर लाल बिन्दी लगायी। बहुमूल्य वस्त्राभूषण पहिनाये और फिर हाथ जोड़कर भगवान् से प्रार्थना की—"कीर्तिलली मेरे कनुआ की दुलहिनि हो जाय।" इतने में ही और भी गोपियाँ आ गयीं। नन्दरानी को ऐसे प्रार्थना करते देखकर वे सब हँस पड़ीं और बोलीं—"नन्दरानी! न बतासे बाँटे न खोखरी खिलायीं। ऐसे सूखी ही सगाई कर ली।"

हँसकर नन्दरानी बोलीं—"अरी, मैनाओ! सगाई कहाँ कर ली। हमारे ऐसे भाग्य कहाँ। लड़की क्या है लक्ष्मी है। यदि यह मेरी बहू हो जाय, तो इस कनुआ के भाग्य खुल जायँ। वैसे इस काले कलूटे की सगाई कौन करेगा?"

उनमें से एक बोली—"बहू तनिक बड़ी रही।"

उनमें से एक चंचल-सी गोपी बोली—"अच्छी है, बड़ी बहू बड़े भाग। यह कनुआ बड़ा चंचल भी है। बड़ी बहू रहेगी, तो इसके कान गरम कर दिया करेगी।"

यह सुनकर सब खिलखिलाकर हँस पड़ीं। श्यामसुन्दर ऐसे भोले-भाले बने बैठे थे, मानो वे कुछ जानते समझते ही न हों। श्रीराधाजी मैया की गोदी में विवश बनी बैठी थीं।

राधाजी ने कहा—"मैया बहुत बिगड़ेंगी। उन्होंने मुझसे कहा था—"तू तुरन्त पीताम्बर देकर लौट आना।"

मैया बालिका की विवशता का बड़ी देर से अनुभव कर रहीं थीं। वे बोलीं—"बेटी ! तू कुछ खा ले।"

सम्पूर्ण साहस बटोरकर वृषभानुनन्दिनी ने कहा—"नहीं मैया ! मैं कुछ खाऊँगी नहीं।"

मैया समझ गयीं, लड़की खायगी नहीं, अतः उन्होंने अधिक आग्रह भी नहीं किया। तिल, चावल और लड्डुओं से उन्होंने उनकी गोद भर दी। भरे गोद और भरे हृदय से उठकर वे चलने लगीं। मैया ने कहा—"फिर आना, नित्य आना, इसे भी अपना ही घर समझना, तू इतनी सकुचाती क्यों है, जैसे ही कीर्तिरानी तेरी मैया है, वैसे ही मुझे समझ। तेरी मैया तो मोंड़ी है। तेरा बाप तो अभी लोठरा बना है, किन्तु तेरी मैया तो बूढ़ी हो गयी है। बोल, फिर आवेगी न ?"

स्वीकृति सूचक सिर हिलाकर श्रीराधाजी शीघ्रता से चल दीं। श्याम अपना कर्तव्य स्थिर कर न सके, मुझे क्या करना चाहिये। तब तक मैया ने कहा—"कनुआ ! बच्ची को मार्ग बता देना। देखना, भूल न जाय।"

अन्धे को मानों दो आँखें मिल गयीं। श्यामसुन्दर उनके पीछे-पीछे चले। दोनों में क्या-क्या बातें होती रहीं, इसे तो भगवान् जानें, किन्तु श्यामसुन्दर उन्हें उनके घर तक पहुँचा आये। अब यह मिलन का रोग दोनों के ही हृदय में उत्पन्न हो गया। दोनों का आठ पहर का एक ही काम रह गया। श्रीराधाजी आठ पहर चौंसठ घड़ी यही सोचती रहतीं—"श्याम से कैसे भेंट हो ?" और श्याम सदा यही युक्तियाँ लगाते रहते, कि प्यारी के दर्शन कैसे हों। इन दोनों ओर की चाह में कितनी अगणित लीलाएँ हुईं यही अनुराग की अपार गाथा है। अगणित कवियों ने अनेकों प्रकार से इसका वर्णन किया है, किन्तु वह सब अधूरा है अल्प है। महासागर की कुछ सीमित बिन्दुमात्र हैं।

संकेत

प्रेम मार्ग में संकेत का बड़ा महत्व है। कहना चाहिये प्रेम की भाषा संकेत लिपि में लिखी जाती है। संकेत दो प्रेमियों के बीच में दुभाषिये का काम करता है। इसीलिये संकेतवट नन्द-गाँव और बरसाने के ठीक बीचों बीच में है। संकेत सैनों में होता है, नैनों में होता है और बैनों में होता है। सैनों में जो संकेत होता है, वह स्वीकृति और अस्वीकृति का होता है। नैनों में जो संकेत होता है वह अनुराग और कोप का होता है तथा बैनों में जो संकेत होता है, वह चलने का और रुकने का होता है। संकेत शास्त्र बड़ा गहन शास्त्र है, इसका वर्णन हो भी नहीं सकता। यह तो अध्ययन की अनुभव की वस्तु है। इन तीनों का एक-एक उदाहरण देकर ही इस विषय को समाप्त करना है। श्यामसुन्दर गोपों से घिरे बैठे हैं गोपिकाएँ दही बेचने जाती हैं। श्याम सबसे कर दधि दान लेते हैं। वे अपने अनुराग को सबके सम्मुख प्रकट नहीं करना चाहते। भावगोपन प्रेम का आच्छादन है। जैसे शरीर वस्त्राभूषणों से ढका रहने से ही शोभा पाता है, वैसे ही प्रेम दबा ढका रहने पर ही बढ़ता है। निर्लज्जता से उसमें अश्लीलता आ जाती है। सबके साथ श्रीराधिकाजी भी दही बेचने जाती हैं। वे बोलतीं नहीं, श्याम की ओर देखतीं नहीं। श्याम उनके साथ की एक सखी से बातें करते हैं। वे तो बिना अर्थ की होती हैं, कही किसी से जाती हैं उनका अर्थ कोई समझता है। श्याम ने बातों ही बातों में समीप खड़ी हुई श्यामा से सैनों में संकेत कर दिया—"लौटकर आना।" बात समाप्त हो गयी।

नैनों में संकेत जहाँ दो-दो नेत्र मिलकर चार हुए वहाँ बहुत-सी बातें हो जाती हैं, उसकी व्याख्या असम्भव है।

बैनों में संकेत का एक विचित्र ढङ्ग है। सबके सम्मुख ही सैनों में श्याम ने संकेत कर दिया. कल मध्याह्न में वंशीवट पर

आना है। नैनों में ही स्वामिनीजी ने स्वीकृति दे दी। रात्रि भर दोनों को निद्रा नहीं आयी, कब प्रातः हो कब मिलन हो, किन्तु मिलना भी सहज नहीं। लोकलाज, समाज बन्धन, घर वालों की घेराघारी सभी का तो ध्यान रखना पड़ता है। लोक में रहकर लोक व्यवहार की तो अवहेलना खुलकर नहीं की जा सकती।

कीर्तिलली आज प्रातःकाल भोर में ही उठी। अपना मोतियों का हार तोड़कर उसे लँहगा में छिपा लिया। बार बार आँगन में आती हैं, फिर घर के भीतर जाती हैं, यहाँ खोज वहाँ खोज। शैया के नीचे खटर-पटर करती हैं, बिस्तरे को हिलाती हैं।

मैया ने पूछा—"बेटी! क्या खोज रही है?" मुख पर भय से बनावटी भाव धारण करके कुछ बताती नहीं। कण्ठ को सूना-सूना देखकर मैया पूछती हैं—"तेरा मोतियों का हार कहाँ गया? कल सायंकाल में तो मैंने तुझे पहिने देखा ही था। अवश्य ही तू कहीं उसे खो आयी है। डर के कारण बताती नहीं। सत्य बता, किसी को दे आयी या कहीं डाल आयी।"

श्रीजी रोनी सूरत बना लेती हैं—कहती हैं—"मैया! मैंने किसी को दिया नहीं।"

"दिया नहीं तो गया कहाँ?" माता ने बात पर बल देते हुए क्रुद्ध होकर कहा।

श्रीराधा ने बनावटी चिन्ता की मुद्रा बनाकर कुछ देर सोचकर कहा—'कल मैं यमुनाजी गयी थी, वहाँ सबने स्नान किया, मैंने भी किया। तब तक की तो मुझे स्मृति है, हार मेरे कण्ठ में ही था। एक गोपी दृष्टि गड़ाकर देख रही थी। वहाँ कई थीं। यदि तू ललिता विशाखा को मेरे साथ भेज दे, तो मैं उसे चीन्हकर पता लगा सकती हूँ।"

बहुमूल्य हार था, माता ने तुरन्त ललिता विशाखा को साथ

कर दिया। जाते समय श्रीजी मैया से कहती गयीं—"मैया, यदि मुझे कुछ देर सबेर भी हो जाय, तो कोई चिन्ता मत करना। यह कहकर वे संकेत की ओर चलीं। नन्दभवन के नीचे होकर ही निकलीं। "नन्दभवन की ओर होकर संकेत का मार्ग कहाँ है जी ? यह तो उलटा मार्ग हुआ ?" प्रेम का मार्ग उलटा ही होता है। इसका कोई एक निश्चित मार्ग नहीं। इसमें प्रेमी पथ का अनुसरण नहीं करता, पथ को ही प्रेमी के अनुरूप बनना पड़ता है।

हाँ, तो इधर श्यामसुन्दर आज प्रातःकाल से ही व्यग्र हो रहे थे। न जाने क्यों वे बार-बार घर के भीतर जाते फिर बाहर आते। मैया ने तुरन्त रसोई बनाई। बलदेवजी को बुलाया—"आओ भैया! नारायण का भोग लग गया, प्रसाद पा लो।"

बलदाऊ ने कहा—"मैया, मुझे आज अभी भूख नहीं है। कनुआ पहिले खा ले, फिर मैं खाऊँगा।"

भगवान् को इसमें क्या आपत्ति होनी थी, वे ग्वाल बालों के संग भोजन करने बैठ गये। शीघ्र-शीघ्र बड़े-बड़े ग्रास खाने लगे। मैया बोलीं—"कनुआ! अरे भैया! भोजन करने में ऐसी हड़बड़ाहट नहीं की जाती। धीरज के साथ हौले-हौले खा।"

इतने में ही नन्दभवन के द्वार पर वृषभानुलली ने अपनी सखी ललिता को सम्बोधन करके कहा—"ललिते! तनिक खड़ी रह खदिरावन की ओर मुझे भी चलना है।" ये शब्द यद्यपि ललिता के लिये कहे गये थे, इनमें श्याम का संकेत का नाम भी नहीं था, किन्तु भीतर भोजन करने वाले श्याम के कान तो बाहर ही लगे हुए थे। इन वीणाविनिन्दित वचनों को सुनते ही श्याम खाना पीना सब कुछ भूल गये। जो ग्रास मुख में था, वह मुख में ही रहा। बिना आचमन किये ही दौड़े।

मैया ने पूछा—"कनुआ! कनुआ! अरे कहाँ जाता है,

बेटा! रोटी तो खा ले क्या बात है। ऐसी हड़बड़ी क्यों मचा रहा है।"

अत्यन्त व्यग्रता प्रकट करते हुए नन्दनन्दन बोले—"अरी मैया! एक भारी काम याद आ गया।"

मैया ने प्यार से कहा—"सुन तो सही, क्या काम है, काम सब पीछे हो जायँगे, तू रोटी तो खा ले।"

आप क्रुद्ध होकर बोले—"तुझे रोटी की पड़ी है। अभी कुछ देर हुई, एक गोप कह गया था, कि वह हमारी मरखनी गौ जङ्गल में ब्याहि पड़ी है। ब्याते समय बड़ी कूद फाँद करती है। मैं न जाऊँगा, तो वह सब गौओं को मारेगी।"

इतना कहकर आप लकुटी और वंशी बगल में दबाकर भागे, मैया रसोई घर से उठकर खड़ी हो गयीं—"अरे, सुन तो सही। गौ कहीं भगी नहीं जाती है, तू रोटी तो खा ले।"

जो गोप समझते थे, उन्हें तो सब पता ही था, अपनी हँसी रोककर वे बोले—"मैया, अब तू इसे जाने दे, इसकी गौ बड़ी बिदुकनी है। यह न गया, तो न जाने वह किधर भाग जायगी।'

उन गोपों को नेत्रों ही नेत्रों में डाँटते हुए श्याम यह गये, वह गये और अति शीघ्र श्रीजी से जाकर मिल गये। यह नैनों का संकेत है। बात कही कुछ गयी, कही किसी से गयी और समझी किसी ने। इसका और भी एक उदाहरण लीजिये।

यमुनातट पर बड़ी भीड़भाड़ है, स्त्री, पुरुष, बालक, बालिका, युवती, युवा, बड़े-बूढ़े सभी हैं। वृषभानुकिशोरी भी स्नान करके जा रही हैं। इधर गोपों से घिरे नन्दनन्दन भी आ रहे हैं। कुलव्रती राजकुमारी सबके सम्मुख आँख उठाकर तो देख नहीं सकती। चलते ही चलते उन्होंने पुकारा—"अरी, ओ ललिते! आगे बढ़ गयी क्या? अरी साँझ के समय अवश्य आना।" न

वहाँ ललिता थी न विशाखा। शून्य में ये शब्द किसी को उद्देश्य करके कह दिये।"

इधर श्यामसुन्दर समझ गये और बोले—"अरे, भैया! मनसुखा! अच्छा, तू अप्रसन्न हो गया। शाम को मैं तेरे घर अवश्य आऊँगा।" स्त्री, पुरुष, बूढ़े-बड़े सभी सुन रहे थे. इस बात की ओर ध्यान देने की किसे आवश्यकता थी, कि ये किस मनसुखा के लिये कहे जा रहे हैं। ताड़ने वाले ग्वाल-बाल ताड़ गये और हँसकर बोले—"कनुआ भैया! मनसुखा तो यहाँ है नहीं, आज आया भी नहीं। हाँ, मनसुखी अवश्य है।" यह सुनकर श्यामसुन्दर क्रुद्ध हुए और बोले—"तुम लोग बड़े धूर्त हो रे! चलो, चलें।" सब घर आ गये और सायंकाल के समय नियत समय पर वृषभानुजी के भवनों में दोनों का मिलन हुआ।

इस प्रकार दोनों ओर से नित्य प्रति नवानुराग बढ़ने लगा। प्रेम छिपाये से तो छिपता नहीं। मन के भाव बिना कहे वायुमंडल में बिखर जाते हैं। गोपों में और गोपियों में गुपचुप-गुपचुप काना फूँसी होने लगी। नन्दजी, वृषभानुजी, कीर्तिरानी तथा यशोदारानी किसी से भी यह बात छिपी न रह सकी, कि दोनों ओर से अनुराग बढ़ रहा है। वृषभानुजी चाहते थे, नन्दजी हमारे समधी बनें, नन्द यशोदा की भी हार्दिक इच्छा थी, राधा हमारी पुत्रबधू बने। दोनों ओर से नेग जोग भी आरम्भ हो गये। सगाई के पहिले जो कुछ भेजना होता है, वह भी सब भेजा जाने लगा। प्रतीत ऐसा होता है, वृषभानु जी नन्दजी से कुछ अधिक धनी थे। साक्षात् श्री ही जब उनके यहाँ पुत्री के रूप में अवतीर्ण हो गयीं हैं, तो उनसे अधिक धनी और कौन हो सकता है। आठों सिद्धियाँ नवों निधियाँ निरन्तर हाथ बाँधे उनकी सेवा में खड़ी रहती थीं। कुछ लोग ऐसे भी होते हैं, जो दो आदमियों का काम हो रहा होगा, तो उसमें भाँजी मार देते

हैं। किसी ने कीर्तिरानी से कह दिया—"नन्द के घर में तो भूँजी भाँग भी नहीं, तुम अपनी बेटी का विवाह उसके बेटा के साथ क्यों करना चाहती हो ?"

अब क्या था, कीर्तिरानी अड़ गयीं। वे तो घर वर दोनों को ही सुन्दर देखना चाहती थीं। अब तक लोग वर में ही दोष बताते थे। उसका रंग काला है, चोरी भी करता है, तीन स्थान से टेढ़ा भी है।" फिर भी राजा का लड़का है, कैसा भी टेढ़ा सीधा हो घर तो अच्छा है, किन्तु जब घर के विषय में भी संदेह होने लगा, तब तो अड़ गयीं। वृषभानुजी से बोलीं—"मैं अपनी बच्ची का ऐसे कोरे घर में विवाह न करूँगी।"

वृषभानुजी ने बहुत समझाया—"तुझे किसने यह कह दिया है। नन्दरायजी तो हम सब गोपों के राजा हैं। चार पैसा अधिक होने से ही कोई धनी नहीं हो जाता। उनका कितना प्रतिष्ठित कुल है।" किन्तु स्त्री हठ के सम्मुख ब्रह्मा बाबा को भी हार माननी पड़ती है। कीर्तिरानी नहीं मानी, नहीं मानी। अन्त में वृषभानुजी ने पूछा—"अच्छा, तुझे विश्वास कैसे हो, कि वे हमसे अधिक धनी नहीं हैं ?"

कीर्तिरानी ने कहा—"देखो, मेरे पास ये पाँच बहुमूल्य मुक्ता हैं। ऐसे मुक्ता यदि उनके यहाँ दो भी हों, तब तो मैं बच्ची का विवाह उनके यहाँ करूँगी नहीं तो मैं कोई दूसरा वर खोजूँगी।"

वृषभानुजी ने कहा—"अच्छी बात है, तुम किसी त्यौहार पर्व पर उनको भेजना और कहना अबके वे भी बच्ची के लिये ऐसे ही मुक्ता भेजें।" कीर्तिरानी ने यह बात स्वीकार की। सलूने पर वे पाँच मुक्ता भेजे और कहला दिया—"ऐसे ही मुक्ताओं की माला अब के भेजें।"

नन्दजी ने जब यह समाचार सुना तो बड़े घबराये। उन्होंने

इतने बड़े-बड़े मुक्ता देखे भी नहीं थे। माला की कौन कहे, उनके यहाँ तो ऐसा एक भी नहीं था। यशोदाजी भी बड़ी उदास हो रही थीं। इतने में ही श्यामसुन्दर आ गये और मैया को उदास देखकर वे उनसे लिपटकर बोले—"मैया! मैया! तू क्यों दुखी हो रही है।"

निराशा के स्वर में माता ने कहा—"अरे, भैया! क्या बताऊँ जैसे-तैसे तो मुझे ऐसी सुन्दरी बहू मिलने की आशा हुई थी, अब देखती हूँ, हाथ से बहू भी जा रही है और जाति में जो अपमान हो रहा है वह अलग रहा।"

संभ्रम के साथ श्यामसुन्दर ने कहा—"क्यों! क्यों! क्या हुआ? क्या हुआ?"

मैया ने कहा—"अरे, भैया! क्या हुआ? तेरी ससुराल से ये मुक्ता आये हैं। कीर्तिरानी ने कहलाया है, ऐसे मुक्ताओं की माला लड़की के लिये भेजो। हमारे यहाँ तो ऐसा एक भी मुक्ता नहीं।"

श्यामसुन्दर सरलता के साथ बोले—"तो मैया! इसमें चिन्ता करने की कौन-सी बात है, इन्हें खेत में बो दो। बहुत-से हो जायँगे।"

यह सुनकर सूखी हँसी हँसकर मैया बोलीं—"अरे, तू तो पागल है लल्लू! अरे बेटा! ये तो किसी-किसी हाथी के मस्तक में होते हैं। खेत में थोड़े ही पैदा होते हैं।"

श्यामसुन्दर बोले—"अरे, मैया! वृन्दावन की भूमि का ऐसा प्रभाव है, कि इसमें जो कहीं न हो वह यहाँ पैदा हो जाय। तुझे कुछ पता तो है नहीं। तुझे तो रसोई चौका वर्तन से ही समय नहीं मिलता। देख मैं अभी बोता हूँ, यह कहकर श्याम ने वे पाँच मुक्ता उठा लिये। नन्दजी कुपित हुये, कहीं इन्हें भी खो देगा तो हमारी अपकीर्ति होगी, किन्तु श्याम नहीं माने। वे

उन्हें लेकर यमुना किनारे चले गये। कुतूहल वश नन्दजी तथा अन्यान्य बहुत-से गोप भी साथ गये। जाकर भगवान् ने खेल-खेल में ही बालू की क्यारियाँ बनाईं, उनमें वे मुक्ता गाड़ दिये। यमुनाजी से लाकर पानी दिया। सबको बड़ा आश्चर्य हुआ, उनमें से तुरन्त अंकुर निकले, बात की बात में बड़ी-बड़ी बेलें हो गयीं। उनमें मोटी-मोटी फलियाँ लगीं, वे पककर फूट गयीं। उनमें उनसे भी बड़े-बड़े मुक्ता निकले। उन सबको श्यामसुन्दर ने फिर बहुत-सी क्यारियाँ बनाकर बो दिया। उनमें फिर अंकुर निकला फिर बेल हुई और मनों मुक्ता हो गये। फिर उन्होंने नंद जी से कहा—"बाबा! अब छकड़े मँगवाओ और दस-बीस छकड़े वृषभानुजी के यहाँ भेज दो और कहला दो—"अब तो हमारे यहाँ मुक्ताओं की खेती होने लगी है आप जितने चाहें उतने मँगा लिया करें।"

नन्द बाबाजी ने हर्षित होकर छकड़ों में भरवाकर मुक्ता वृषभानुजी के यहाँ भिजवा दिये। मुक्ताओं के छकड़े देखकर कीर्तिरानी को अत्यन्त विस्मय हुआ, फिर उन्हें शङ्का करने का कोई स्थान ही न रहा। श्रीराधाजी का श्यामसुन्दर ने यथासमय पाणिग्रहण किया।

किन्हीं-किन्हीं का कथन है कि, श्यामसुन्दर ने श्रीराधाजी का पाणिग्रहण किया तो अवश्य, किन्तु छद्म रूप से किया। किसी गोप ने घोर तपस्या करके यह वर माँगा कि श्रीराधिकाजी मेरी पत्नी हों।" भगवान् ने वर दिया—"अच्छी बात है, पत्नी तो तुम्हारी हो जायँगी, किन्तु तुम्हारी पत्नी होकर भी वे मेरी ही बनी रहेंगी।"

ब्रह्माजी के मोह के समय श्यामसुन्दर ही बछड़ों और गोपों के रूप में एक वर्ष तक रहे। व्रज के सब गोप और बछड़े ब्रह्माजी के लोक में माया से अचेतन हुए पड़े रहे। उसी समय भग-

वान् ने गोप का भी रूप रखा और उसी रूप से श्रीराधाजी का पाणिग्रहण किया। बाह्य दृष्टि से तो लोगों को दिखाने के निमित्त उन्होंने उस गोप का रूप रख लिया था, किन्तु वास्तव में तो वे श्यामसुन्दर ही थे। जो जिसकी वस्तु है, उसे दूसरा कोई ग्रहण ही कैसे कर सकता है। इस रहस्य को श्रीराधाजी जानती थीं श्रीकृष्णजी जानते थे या वर्ष भर के पश्चात् उन्हीं की कृपा से ब्रह्माजी और बलदेवजी भी जान गये। पाँचवें किसी को भी इस रहस्य का पता नहीं था। इसीलिये कुछ लोग ऊपर से परकीया भाव की कल्पना करते हैं। यह केवल ऐकान्तिक रसास्वादन का भाव मात्र है। अन्तर में तो स्वकीया ही है। स्वकीय बिना हुए स्नेह कहाँ?

कुछ भी हो श्रीराधा और श्रीकृष्ण का अद्भुत अलौकिक प्रेम एक पहेली बन गया। अबकी बात तो पृथक् है उस समय ही कोई कुछ कहता, कोई कुछ कहता। कोई श्रीराधाजी के चरित्र पर शङ्का करते कोई उनके पातिव्रत में दोष लगाते। इसीलिये सुना श्रीराधाजी को अपने पातिव्रत की परीक्षा भी देनी पड़ी।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! श्रीराधा तो सर्वेश्वरी हैं। निखिल विश्व ब्रह्मांड की एकमात्र अधीश्वरी हैं, उनकी परीक्षा ली किसने?"

इस पर हँसकर सूतजी बोले—"महाराज! जिसने संसार में शरीर धारण किया है वह चाहे सर्वेश्वर हो या सर्वेश्वरी। जीव हो या ईश्वर परीक्षा सभी को देनी पड़ती है। भगवान् तो उत्तीर्ण ही हैं। जो जीव परीक्षा में उत्तीर्ण हो गया, वह पार हो गया। जो अनुत्तीर्ण हुआ वह लटकता का लटकता ही रह गया। सर्वेश्वरी की परीक्षा लेने की सामर्थ्य सर्वेश्वर के बिना और किसकी हो सकती है। सर्वेश्वर ने ही सर्वेश्वरी के पातिव्रत की परीक्षा ली।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! सर्वेश्वर ने सर्वेश्वरी जी की परीक्षा क्यों ली और कैसे ली ? इस प्रसंग को कृपा करके हमें सुनाइये।"

सूतजी बोले—"अच्छी बात है, सुनिये महाराज ! मैं इस प्रसंग को आपको सुनाता हूँ। संसार में लोगों को गुलाबजामुन भी इतनी रसीली और मीठी नहीं लगती जितनी परचर्चा परनिन्दा मीठी लगती है। जिनसे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं, लेन नहीं, देन नहीं उनकी भी हम घण्टों तक चर्चा करते रहेंगे। किसी से तनिक किसी के सम्बन्ध में कुछ सुन भर लें। उसी का राई का पहाड़ बना देंगे। इससे प्रतीत होता है, मनुष्य को परचर्चा अत्यन्त प्रिय है। हम लोग छोटे-मोटे आदमी ही परचर्चा या परनिन्दा करते हों सो बात नहीं, बड़े बड़ों को यह रोग होता है। किसी महात्मा से किसी अन्य महात्मा की कोई चर्चा करेगा तो वह छूटते ही कहेगा—"अजी हम सब उसकी नस-नस जानते हैं। आज वह महात्मा बन गया है, पहिले ऐसा था वैसा था।" प्रतीत ऐसा होता है कि परचर्चा किये बिना मनुष्य का अन्न पचता नहीं। जो परचर्चा से रहित हैं, कभी किसी के दोष गुणों का चिन्तन नहीं करते, वे मनुष्य नहीं ईश्वर हैं। नर रूप में नारायण हैं।"

पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में परचर्चा की प्रवृत्ति अधिक होती है। स्त्रियों को एक अपच का रोग होता है उसमें यदि पानी भी पिलाओ तो नहीं पचता। इसी प्रकार स्त्रियों के पेट में बात पचती नहीं। धर्मराज युधिष्ठिर का शाप भी है इसीलिये स्त्रियों को तनिक भी किसी के सम्बन्ध में कुछ शङ्का होगी, तो वे अवश्य ही काना फूँसी आरम्भ कर देंगी। ब्रज में आजकल स्त्रियों में एक ही चर्चा थी। श्रीराधा और माधव के प्रेम सम्बन्ध की। कोई पक्ष में बोलता कोई विपक्ष में, किन्तु आजकल श्रीराधा सबकी

समालोचना का केन्द्र बनी हुई थीं। कोई उन्हें परकीया मानते कोई स्वकीया। स्वकीया परकीया का यह भेद सनातन है और सदा रहेगा।

यदि कुत्ता कुतियों के भूकने से हाथी डर जाय, तब तो वह कभी गाँव में आ ही नहीं सकता, क्योंकि हाथी को देखकर कुत्ते भूकते ही हैं, किन्तु वह उनकी उपेक्षा करता रहता है। मेरे सम्बन्ध में कोई क्या कहता है इस ओर वृषभानुनन्दिनी ध्यान ही नहीं देती थीं। फिर भी बात सीमा को उल्लंघन कर गयी। अब श्यामसुन्दर को स्वयं ही चिन्ता हुई। वे सबके सम्मुख किशोरीजी को निर्दोष सिद्ध करना चाहते थे। जिसको अपना सर्वस्व समर्पित कर दिया है हमारे यश अपयश की चिन्ता भी उसे ही होगी। आश्रित तो एकमात्र सर्वात्मभाव से समर्पण ही करना जानता है।

वैसे तो बहुत-सी स्त्रियाँ श्रीराधाजी के चरित्र पर लांछन लगाती थीं किन्तु उनमें दो प्रधान थीं, एक बुड्ढी और एक युवती। दोनों ही सदा पर पुरुष की ओर कभी नहीं देखती थीं। किन्तु देखना ही तो कोई पाप नहीं। पाप तो होता है मन से, कभी-कभी यह सदाचार का मिथ्याभिमान भी साधना में बड़ा भारी विघ्न हो जाता है। जब तक यह अभिमान चूर्ण नहीं होता, तब तक मनुष्य की बुद्धि ठिकाने नहीं आती। उन दोनों को अपने सतीत्व का अभिमान था इसी अभिमान में भरकर वे सबको असती मानती थीं और उनकी ऊपरी घटना देखकर निन्दा भी करती थीं, दूसरों की बुराई वही देखेगा जिसके भीतर बुराई भरी होंगी। जिन्हें बुराइयों की आवश्यकता होगी। संसार में तो सदा से अच्छे बुरे रहे हैं, सदा रहेंगे। पंसारी की दूकान पर विष भी है, रसायन भी है, हमें मरना होगा, तो विष की खोज करेंगे। कायाकल्प करना होगा, तो विष की ओर ध्यान

न देकर त्रिफला आदि जो द्रव्य आवश्यक होंगे, उनकी ही चर्चा करेंगे।

हाँ, तो एक दिन श्रीकृष्ण रुग्ण हो गये। रोग ऐसा हो गया, कि माता-पिता सभी घबरा गये। गोप गोपी गोविन्द को घेर कर रोने लगे। मन्त्र, जन्त्र, जादू, टौंना, झाँड़-फूँक तथा जड़ी बूटी सभी से उपचार किया, किन्तु किसी से कुछ लाभ नहीं हुआ। यशोदाजी के धैर्य का बाँध टूट गया, वे ढाह मारकर रोने लगीं। सहसा एक सुन्दर-सा वैद्य एक हाथ में झोली दूसरे में डंडा लिये हुए वहाँ आ उपस्थित हुआ। झोली डण्डा रखकर उसने कहा— "मैं मधुपुरी से आया हूँ, मैंने सुना नन्दकुमार कुछ अस्वस्थ हैं, मैं अभी इन्हें अच्छा करता हूँ।"

यशोदा मैया पर तो मानों किसी ने अमृत चिन्तन कर दिया। बोलीं—"वैद्यराज! मेरे लाला को तुम अच्छा कर दो, जो भी तुम माँगोगे वही मैं दूँगी। अपना सर्वस्व तुम्हें समर्पित कर दूँगी।"

वैद्य ने गम्भीरता के साथ कहा—"मेरे गुरु की आज्ञा है, मैं जिसकी चिकित्सा करता हूँ, उसके घर का जल भी नहीं पीता। यदि मैं रोगी से कुछ लेने लगूँ, तो मेरी विद्या विफल हो जाय। मैं निःशुल्क चिकित्सा करता हूँ।"

मैया ने व्यग्रता के साथ कहा—"आप जैसे भी चाहें तैसे करें। मेरे बच्चे को अच्छा कर दें। क्या-क्या वस्तु आपको चाहिये।"

वैद्य ने कहा—"मुझे कुछ नहीं चाहिये। केवल एक घड़ा यमुना जल चाहिये।"

मैया ने कहा—"मैं जितना कहो, उतना जल स्वयं ला सकती हूँ।"

वैद्यराज गम्भीरतापूर्वक बोले—"आपके लाने से काम न

चलेगा। आपके अतिरिक्त और जो भी सती स्त्री हो, वह भर-कर लावे। जिसे अपने पातिव्रत पर पूर्ण विश्वास हो। यदि कोई असती जल लावेगी, तो उससे श्यामसुन्दर अच्छे न होंगे।"

सबका हृदय धड़कने लगा। मन से जिसने कभी परपुरुष का चिन्तन न किया हो ऐसी स्त्री सर्वत्र नहीं मिल सकती। सब सहम गयीं। मैया ने कहा—"यह प्रतीत कैसे हो, कि यह जल सती का ही लाया हुआ है। सभी अपने मन से तो अपने को सती समझती हैं।"

हँसकर वैद्यराज ने कहा—"अपने मन से समझने से काम थोड़े ही चलेगा। सती की एक परीक्षा है। उस परीक्षा में उत्तीर्ण होकर जो कलश को यमुना से भर लावे वही सती है, जो न भर सके वही असती है।"

मैया बोलीं—"अब तुम तो अड़ंगा लगा रहे हो। उसे भी बताओ। उसके लिये क्या-क्या करना होगा।"

वैद्यराज बोले—"उसके लिये कुछ नहीं। एक मिट्टी का कच्चा घड़ा मँगा दो।"

तुरन्त मिट्टी का कच्चा घड़ा आया। वैद्यराज ने अपनी झोली से सुवर्ण की एक कील निकाली। उससे उसमें सौ छिद्र कर दिये। एक कैंची निकाली। उससे श्यामसुन्दर की काली-काली घुँघराली बड़ी-सी लटकती हुई एक लट काट ली। उसके प्रत्येक बाल को बाँधकर एक बालतन्तु का निर्माण किया। उसे यमुनाजी के इस पार से उस पार तक बाँध दिया और कहा—"इस घड़े को लेकर जो इस बाल पर चलकर इस पार से उस पार जाकर यमुना जल भर लावे और एक बूँद भी जल न गिरे, वही सती है। उसी के लाये हुए जल से श्यामसुन्दर अच्छे हो जायँगे।"

यह सुनकर सभी स्त्रियों का साहस छूट गया। अब सब

मिलकर उन दोनों को उसकाने लगीं। उन्हें भी अपने सतीत्व का गर्व था। दोनों ही बारी-बारी से घड़ा लेकर गयीं किन्तु पैर रखते ही तन्तु टूट गया, दोनों ही दोनों बार बुरी तरह औंधे मुख गिर गयीं और यमुनाजी में गिरते-गिरते बचीं। अब जिनका कुछ साहस था भी वह भी छूट गया। अब किसी ने घड़ा उठाने का साहस न किया। जब किसी ने भी घड़े को न उठाया तो माँ रोकर बोलीं—"वैद्यराज! तुम्हें मेरे बच्चे को अच्छा नहीं करना है तो स्पष्ट कह दो। ऐसी असंभव बात क्यों कर रहे हो ?"

वैद्य ने गम्भीर होकर कहा—"माता! संसार में असम्भव कुछ नहीं। सती साध्वी सब कुछ कर सकती हैं ?"

माँ ने कहा—"तो तुम्हीं बताओ, कौन है ऐसी सती ?"

वैद्य ने कहा—"मैं क्या जानूँ। हाँ, मैं ज्योतिष भी जानता हूँ। कहो तो गणना करके नाम बता दूँ।"

सबके मन में एक साथ बड़ा कुतूहल हुआ और सबने बल देकर आग्रहपूर्वक कहा—"नाम बताइये, नाम बताइये।"

वैद्यराज कुछ देर तक मेष, वृष, मिथुन, कन्या करते रहे अन्त में बोले—"यहाँ कोई राधा है ?"

मैया ने कहा—"हाँ, है। हाय! उसे श्याम के रोग की बात मालूम न हुई होगी नहीं वह तो सबसे पहिले आती।" तुरन्त दौड़कर एक सखी श्रीमती राधिकाजी को बुला लाई। वैद्य ने देवी को दूर से ही देखकर उनकी अभ्यर्चना की और कहा—"देखो, यह घड़ा उस पार से भरकर केश तन्तु पर चलकर लाना होगा।"

"इससे क्या होगा, वैद्यराज ?" वीणाविनिन्दित स्वर में श्रीकिशोरीजी ने कहा।

"अच्छा, श्यामसुन्दर मेरे लाये जल से अच्छे हो जायँगे।" उन्होंने तुरन्त घड़े को उठाया। स्त्री पुरुषों में कोलाहल मच गया। सभी का हृदय धड़क रहा था। कुछ स्त्रियाँ मन-ही-मन हँस रही थीं, कुछ परिणाम के लिये अत्यन्त उत्कण्ठित हो रहीं थीं। श्रीवृषभानुनन्दिनी धीर गम्भीर भाव से सरलता के साथ शतछिद्रों वाले घड़े को लेकर यमुना तट पर आयीं। पीछे-पीछे अपार भीड़ थी। श्रीकृष्ण की जटा से निर्मित केशतन्तों को उन्होंने प्रणाम किया, फिर वे सरलता से उसके ऊपर से गयीं, घड़ा भरकर फिर उसके ऊपर से सरलता से चली आयीं, इस अद्भुत घटना से सभी के हृदय आनन्द से भर रहे थे, सब उनका जय जयकार कर रहे थे। देवता उन पर पुष्पों की वर्षा कर रहे थे। जल लाकर वे सरल बालिका के सदृश श्यामसुन्दर के समीप खड़ी हो गयीं।

वैद्य ने कहा—"देखो, तुम ही श्यामसुन्दर के ऊपर तीन चुल्लू जल डालो, तीन बार इनके सिर में फूँक मारो। अभी तुरन्त इनका रोग दूर होता है। बिना कुछ आपत्ति किये सरलता के साथ श्रीराधाजी ने तीन चुल्लू जल श्यामसुन्दर के ऊपर डाल दिया और तीन बार उनके मस्तक पर फूँक मारी। तुरन्त श्यामसुन्दर का रोग दूर हो गया। वैद्यराज अपना झोली डण्डा उठाकर जिधर से आये थे, उधर ही चले गये। उसी दिन से सबको विश्वास हो गया, कि व्रज में एक ही सती साध्वी पतिव्रता है और वह है कीर्तिनन्दिनी श्रीराधा।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! मैं कुछ श्रीमती राधाजी का जीवन चरित्र आप से नहीं कह रहा हूँ। उनके अपार चरित्र का कथन कर ही कौन सकता है, मैं तो उनकी महती महिमा के समुद्र से कुछ कण लेकर आपके सम्मुख उदाहरण उपस्थित कर रहा हूँ। वे श्यामसुन्दर की प्रधानशक्ति हैं। श्यामसुन्दर इन्हीं

के सहारे क्रीड़ा करते हैं, रास विलास करते हैं। ये ही रास की प्रधान रासेश्वरी हैं। रास के समय जब गोपियों को अपने ऐश्वर्य का मद हो गया था, उनके मन में मान उदय हो गया था, तब रासेश्वर इन्हीं अकेली रासेश्वरी अपनी प्रियतमा राधाजी को लेकर अन्तर्धान हो गये थे। इसीलिये गोपिकायें, लता-वृत्त, खग मृग तथा अन्य चर अचर जीवों से प्रिया के सहित प्रेष्ठ का पता पूछती थीं। वे कहती थीं—"प्रिया के कन्धे पर कर रखे हुए श्यामसुन्दर इधर से जाते हुए तुम लोगों ने देखे तो नहीं हैं।'

शौनकजी ने कहा—"हाँ, तो सूतजी! फिर क्या हुआ? अब आप हमें जो महारास की लीला सुना रहे थे, उसे ही सुनाइये।"

सूतजी बोले—"अच्छी बात है महाराज! अब मैं रास लीला के ही प्रसंग को आगे सुनाता हूँ। आप सब समाहित चित्त से श्रवण करें।"

छप्पय

प्यारीप्रभु की परम स्वामिनी सुखकी सरिता।
श्याम-सिन्धु प्रति बहति भाव भावित रस भरिता॥
लै तिनिकूँ हरि छिपे लतनितैं पूछति नारी।
निरखे इत कहुँ कृष्ण कन्हैया कुञ्जबिहारी॥
नारी तुमहू नारि हम, निष्ठुर नरने ठगि लईं।
चोर चोरिके चित चल्यौ, गयो बिना चित के भईं॥

—०—

प्यारी के संग प्रियतम कहाँ ?

[६७७]

चाहुं प्रियांस उपधाय गृहीतपद्मो
रामानुजस्तुलसिकालिकुलैर्मदान्धैः ।
अन्वीयमान इह वस्तरवः प्रणाम ।
किं वाभिनन्दति चरन्प्रणयावलोकैः ॥*
(श्री भा० १० स्क० ३० अ० १२ श्लो०)

छप्पय

अरी, वेलि सुखकेलि करत निरखे इत गिरिधर ।
मन्द-मन्द मुसकात मदनमोहन मद मनहर ॥
अवसि तुमहिँ प्रभु परसि प्रिया सँग इतहिँ सिधाये ॥
तोरे तुमतैं सुमन कामिनी केश सजाये ॥
नख क्षततैं अनुराग अति, उमहि रह्यो तुम अँगनितैं ।
पायो आलिंगन अवसि, तुम सबने प्रिय सुजनितैं ॥

जीव न जाने कब से अपने स्वामी से बिछुड़ गया है।

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! गोपिकायें कृष्णान्वेषण करती हुई वृक्षों से कह रही हैं—"हे तरुओ ! जिन श्रीकृष्णचन्द्र ने एक हाथ अपनी प्रिया के कंधे पर रख रखा है तथा दूसरे हाथ से क्रीड़ा कमल घुमा रहे हैं और जिनके पीछे-पीछे तुलसी की गन्ध के लोभी मदान्ध मधुकर जा रहे हैं, उन श्रीकृष्णचन्द्र ने यहाँ विचरते हुए तुम्हारे वंदन का अपने प्रणयकटाक्षों से अभिनन्दन किया है क्या ?"

जीव कहाँ बिछुड़ सकता है, स्वामी ही छिप जाता है। उसे ढूँढना-खोजना यही जीव का एकमात्र व्यापार है। वह अपने स्वामी को खोजता है, खोजता है। निरन्तर खोजता ही रहता है। जिसे सम्मुख देखता है, उसी से आशा करता है, सम्भव है स्वामी का पता इसी से लग जाय। किन्तु जिससे आशा रखता है। वह भी तो भटक रहा है। वह भी तो उन्हें ही खोज रहा है। वह आगे बढ़ता जाता है। चौरासी लाख चक्कर लगाता है। यदि इस चक्कर में द्वार मिल गया तो निकल जाता है, नहीं पुनः भटक जाता है, इसे शान्ति ही नहीं, सुख नहीं, विश्राम नहीं, अवसान नहीं। चलता ही रहता है, खोजता ही रहता है। तो क्या इसके प्रयत्न से प्यारे मिल जाते हैं ?' अजी, इसके प्रयत्न से क्या मिल जाते हैं। वे पहिले ही प्रकट हो जाते हैं। "अजी जब प्रकट ही होना था, तो पहिले ही क्यों छिपे ? इतना प्रपञ्च क्यों बढ़ाया।" खेल के लिये, लीला के लिये योगमाया का आश्रय लेकर बाल विनोद कर रहे हैं, आँख मिचौनी खेल रहे हैं। खेल में उन्हें आनन्द आता है, अतः इच्छा करते हैं। प्रजा हो जाती है। वंशीध्वनि सुनते ही सब संभार एकत्रित हो जाते हैं। फिर खेल आरम्भ हो जाता है। चोर छिप जाते हैं, दूसरे खेल वाले उन्हें ढूँढ़ते हैं। उन्हें ढूँढ़ते-ढूँढ़ते जब अपने को खो देते हैं, तो वे मिल जाते हैं। वे ही अवशेष रह जाते हैं। फिर नयी क्रीड़ा आरम्भ होती है। इस प्रकार की अनन्त क्रीड़ायें अनन्त-काल से होती आ रही हैं, अन्तकाल तक होती रहेंगी। इनका आदि नहीं, मध्य नहीं, अन्त नहीं, अवसान नहीं। ऐसे ही चल रही हैं। यह गुणप्रवाह सतत बह रहा है। इसमें रसास्वादन करना ही परम पुरुषार्थ है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! गोपिकायें श्रीकृष्णान्वेषण के व्यापार में जड़ चेतन के भेदभाव को सर्वथा भूल गयीं। वे वृक्षों

को सम्बोधित करके बार-बार कहतीं—"हे तरुवरगण! परोपकार ही तुम्हारा महान् व्रत है, तुम निरन्तर ही सबका उपकार करते रहते हो, तुमने बाल न बनवाने का व्रत ले रखा है, पतझड़ तुम्हारे पत्तों को गिरा देता है, तुम कुछ बोलते नहीं, कोई तुम्हारे अंगों को काट दे तो तुम उसका प्रतिकार भी नहीं करते। तुमने बिना संकेत का मौन व्रत ले रखा है। किन्तु मौनव्रती भी कभी अवसर आने पर मौनव्रत को तोड़ देते हैं तुम भी परोपकार के लिये अपने व्रत को भंग करके हमें श्रीराधाकान्त का पता बता दो। देखो, वे घन के सदृश श्याम हैं। उनके कन्धे पर चमकता हुआ पीताम्बर पड़ा है। अवश्य ही वे अपनी प्रिया के कन्धे पर कर रक्खे हुए चल रहे होंगे। उनकी प्रिया उनसे उसी प्रकार लिपट रही होंगी जैसे घन से सौदामिनी लिपटी रहती है। किन्तु वे गरजते न होंगे, रस की वर्षा अवश्य कर रहे होंगे। हमारा अनुमान है, घनश्याम के अमृत रस के कुछ बिन्दु अवश्य ही तुम्हारे ऊपर पड़े हैं। बिना उन बिन्दुओं के पड़े इतनी प्रसन्नता हो ही नहीं सकती। तुमने जब झुककर झूमकर उनके चरणों को चूमा होगा, तो अवश्य ही उन्होंने तुम्हारे अभिवादन का अभिनन्दन किया होगा, क्योंकि वे कृतज्ञ हैं, नम्र हैं, गुणग्राही हैं, हमसे वे किसी एक अपराध पर रूठ गये हैं। दोष हमारा ही है, उनका नहीं। वे तो निर्दोष हैं, सम हैं, व्यापक हैं, बृहत् हैं, परिपूर्ण हैं, सर्वगत हैं।

सम्मुख फूली लताओं को देखकर वे बोलीं—"इन पुरुष वृक्षों की सम्भव है श्यामसुन्दर ने उपेक्षा भी कर दी हो, क्योंकि पुरुष जाति कठोर होती है, किन्तु ये लतायें तो बड़ी लचीली हैं। तनिक वायु लगते ही हिल जाती हैं, तनिक रस बरसते ही खिल जाती हैं। बिना बुलाये ही वृक्षों से मिल जाती हैं, उनसे लिपट जाती हैं, लिपटकर फिर टूट भले ही जायँ छूटती नहीं। ये

अनुरागवती हैं इनको पूछो। यद्यपि ये आप्तकामा हैं, इनकी सब कामनायें पूर्ण हैं। ये आठों पहर अपने प्राणपतियों के प्रेमालिंगन सुख को प्राप्त करती हैं, फिर भी इनका शरीर रोमांचित हो रहा है, इससे विदित होता है, कि इन्हें भगवान् के लाल-लाल सुकोमल नखों का स्पर्श अवश्य ही प्राप्त हुआ है। श्यामसुन्दर ने अपनी स्नेहमयी सखी को सजाने के लिये इनसे सुमनों की याचना की होगी और इन्होंने उदारतापूर्वक अपनी शाखा रूपी भुजाओं को फैला दिया होगा और हँसकर कह दिया होगा—"हे व्रज-वल्लभ! तुम्हें इनमें से जो भी अच्छे लगें अपनी चुटकी से तोड़ ले जाओ।" तब अनुराग भरित हृदय से हरि ने इनकी शाखा को झुकाकर झकझोर करके उनसे सुमन तोड़ लिये होंगे और शीघ्रता में स्वतः ही वे शाखायें उछलकर उनके कपोल से छू गयी होंगी। क्योंकि प्यारे के कमनीय कपोल के सुखद स्पर्श बिना इतनी प्रफुल्लता आ नहीं सकती। अहा! इनका कितना भारी सौभाग्य है। जिस प्रेमालिंगन के लिये लक्ष्मीजी, कमल वन में जाकर एकान्तवास करके कैसी घोर तपस्या करती हैं। जिस आलिंगन के लिये तुलसीजी वृक्ष बनकर वर्षा, हिम तथा आतप आदि को सहन करके दुष्कर तप तपती रही हैं, वही आलिंगन इन लताओं ने अपने पुष्पों के कारण अनायास ही प्राप्त कर लिया है। इससे यह लोकोक्ति सत्य ही प्रतीत होती है, कि प्यारे को प्रसन्न करने की अपेक्षा प्यारे के प्यारे को प्रसन्न करने की सतत चेष्टा करे। यदि प्यारे का प्यारा प्रसन्न हो जाय, तो उसे प्रसन्नता प्रदान करने से प्यारे भी प्रसन्न हो जाते हैं। ये लतायें धन्य हैं जिनके सुमनों से श्यामसुन्दर ने अपनी प्यारी के केशों को सजाया है। हाय! हम अभागिनी लताओं से भी गई बीती हो गयीं। हम यदि व्रज की अबला न होकर वृन्दावन की किन्हीं कुञ्ज की लता ही होतीं तो श्यामसुन्दर अपने साँवले सलोने

करों से हमारे सुमनों को तो तोड़ लेते, हमारी सघन शीतल छाया में अपनी प्रिया के संग क्रीड़ा तो करते। अपने प्रणय कटाक्षों से हमारी ओर निहारकर अपनी प्रिया को प्रसन्न करने को हमारी शोभा तो दिखाते, हमारे गुणों का गान तो करते।

हाय! इस सुन्दर मानव शरीर से क्या लाभ ? जिससे श्यामसुन्दर का साक्षात्कार न हो। हमसे तो ये वृन्दावन की कंकड़ियाँ ही भाग्यशालिनी हैं जो श्यामसुन्दर के चरणों के स्पर्श से कठोर होने पर भी मृदुल हो जाती हैं। श्यामसुन्दर के चरणों का स्पर्श होने पर फिर भला किसी में कठोरता कैसे रह सकती है ? वृन्दावन के ये सूखे पत्ते जो घर द्वारविहीन होकर इधर-उधर पड़े रहते हैं। वायु जिन्हें जहाँ चाहती है वहीं उड़ाकर ले जाती है ये हमसे तो भाग्यशाली हैं ही। जो कभी न कभी प्रिया प्रीतम के पादपद्मों के स्पर्श का सौभाग्य प्राप्त करते ही हैं। भटकना तो इन सूखे पत्तों का ही सार्थक है। हम सरसता होने पर भी भटक रही हैं किन्तु हमें श्यामसुन्दर का साक्षात्कार नहीं होता। क्या करें, कहाँ जायँ, किससे पूछें, कौन हमें श्याम का पता बतावेगा, कौन हमें उनसे मिलावेगा, क्या करने से नन्दनन्दन मिल सकेंगे। किस साधन से किस युक्ति से वे हमारे हृदय के हार बन सकेंगे। कैसे वे हमें अपनावेंगे, कब वे हमें हृदय से चिपटावेंगे। कब वे हमें अंक में सटावेंगे ?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इस प्रकार श्रीकृष्ण विरह में व्याकुल हुई व्रजांगनायें विरह की वेदना में विह्वल बनी एक वन से दूसरे वन में भटकने लगीं, श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्द की खोज करने लगीं। खोज करते-करते वे तन्मय हो गयीं और श्रीकृष्ण को विविध लीलाओं का अनुकरण करने लगीं।"

छप्पय

ऐसे कहि-कहि बैन नैनते नीर बहावें।
कबहूँ करें प्रलाप कबहुँ रोवें पछतावें॥
करें कृष्णको ध्यान पुकारें नाम निरन्तर।
नाम ध्यानतें भईं गोपिका तन्मय सत्वर॥
कृष्ण सरिस क्रीड़ा करें, बनी पूतना अपर हरि।
ज्यों को त्यों अभिनय करें, नयन मूँदि पयपान करि॥

श्रीकृष्ण लीलानुकरण

[६७८]

इत्युन्मत्तवचो गोप्यः कृष्णान्वेषणकातराः ।
लीला भगवतस्तास्ता ह्यनुचक्रुस्तदात्मिकाः ॥*

(श्रीभा० १० स्क० ३० अ० १४ श्लोक)

छप्पय

एक बनि गई शकट कृष्ण बनि अपर गिरावै ।
तृनावर्त बनि हरहि अपर हरि बनि हरि जावै ॥
बनि वत्सासुर एक कृष्ण बछरनि बिदुकावै ।
कृष्ण बनी तिहि मारि परमपद ताहि पठावै ॥
बनि बनवारी ब्रजवधू, वेनु बजावें वननिमहँ ।
कछु गोप गैयाँ बनीं, सुनि धुनि आवें रमनजहँ ॥

लोक में देखा गया है, जो जिसका निरन्तर चिन्तन करता रहता है, वैसा ही बन जाता है। विचारों का प्रभाव मन के ऊपर बहुत पड़ता है। मनुष्य जैसा संकल्प करता रहेगा वैसा ही हो जायगा। यह संसार ही संकल्प के अधीन है। हमारे विचार ही आकृति का निर्माण करते हैं। भीत पर, पाषाण की शिला पर, कागद पर चित्रकार वैसी ही आकृति बनावेगा जैसी

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र की खोज में व्याकुल हुई गोपिकायें उन्मत्तों के सदृश प्रलाप करती हुई उनकी लीलाओं का तादात्मिक होकर अनुकरण करने लगीं।"

कि वह कल्पना करेगा। इसीलिये वेदों में बार-बार कहा गया है। हमारे संकल्प शिव हों, सुन्दर हों, कल्याणकारी हों। एक घटना है, कोई स्त्री अपने पति को अत्यन्त प्यार करती थी। युवावस्था में उसका पति कहीं परदेश चला गया, वह उससे शीघ्र आने को कह गया था। दैवयोग से परदेश में जाकर उसकी मृत्यु हो गयी। यहाँ उसकी पत्नी निरन्तर उसकी प्रतीक्षा करती-करती पगली हो गयी। पागलपन में उसका यही संकल्प रहा कि मैं युवती हूँ, मेरे पति अभी आने वाले हैं। पागलपन में ही उसकी ७०–८० वर्ष की अवस्था हो गयी, किन्तु उसका एक भी बाल सफेद नहीं हुआ, क्योंकि वह सर्वदा यही अनुभव करती रहती थी कि "मैं युवती हूँ।" भावों का मुखाकृति पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। बहुत-से पुरुष मुख की आकृति ही देखकर मनुष्यों के अन्तःकरण के भावों को समझ लेते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! श्रीकृष्ण चिन्तन करते-करते वे व्रजांगनायें कृष्णमय बन गयीं। अब वे अपने आप ही श्रीकृष्ण की लीलाओं का अनुकरण करने लगीं। वे आन्तरिक प्रेरणा से श्रीकृष्ण चरित्रों का अभिनय-सा करने लगीं। एक गोपी बालकृष्ण बन गयी। दूसरी पूतना बनकर आयी। वह उसके स्तनों का पान करने लगी। तब वह विष का-सा अनुभव करके धड़ाम से धरती पर गिर गयी। एक शकटासुर बन गयी। दूसरी श्रीकृष्ण बनकर उसके नीचे लेट गयी और उसे पाँव की ठोकर मारकर गिरा दिया।"

एक गोपी ने अपनी फरिया फैलाकर तृणावर्त का अनुकरण किया, दूसरी जो श्रीकृष्ण बनी थी उसे उठाकर उड़ा ले गयी। फिर श्रीकृष्ण बनी ने खेल ही खेल में झूठ-मूठ में उसे मार दिया। एक कहती—"मैं श्रीकृष्ण हूँ, दूसरी कहती—"मैं बलराम हूँ, दोनों साथ-साथ वंशी बजाने का अनुकरण करतीं। कुछ

को गौएँ बना लेतीं, कुछ बछड़े बन जातीं। उन बछड़े बनी गोपिकाओं में कोई वत्सासुर बनकर मिल जाती और सबको पैरों से मारती, तब श्रीकृष्ण जाकर उस वत्सासुर बनी गोपी को पछाड़ते। सब मिलकर कहते—"धन्य-धन्य भैया! बड़ा अच्छा काम किया, यह तो कोई दुष्ट असुर था, जो बछड़ों में आकर मिल गया था। तैंने इसे भला मारा-भला मारा।"

कोई गोपी मुरलीधर बनकर मुरली बजाती। बहुत-सी गोपिकायें गौएँ बनकर घास चुगने का अभिनय करतीं। उन्हें दूर जाते देखकर श्रीकृष्ण वंशी की तान छेड़ते। बाँसुरी की धुनि सुनकर रम्हाती हुई गौएँ बनी गोपियाँ दौड़ी आतीं और श्रीकृष्ण बनी गोपी से लिपट जातीं, इस प्रकार वियोग में भी लीला अनुकरण द्वारा वे संयोग सुख का अनुभव करने लगीं।

कोई श्रीकृष्ण की चाल का अनुकरण करती, अपने शरीर को कुछ टेढ़ा करके मन्द-मन्द गति से बाँसुरी को बजाती हुई चलती और कहती—"देखो, मैं श्रीकृष्ण हूँ, मेरी ललित गति का तो अवलोकन करो। मैं राधारमण हूँ, मुझे ही लोग गोपीजन-बल्लभ कहते हैं।"

फिर सब मिलकर गोवर्धन-धारण लीला का अनुकरण करतीं। कुछ इन्द्रयज्ञ करने को उद्यत होतीं, एक श्रीकृष्ण बनके उनसे यज्ञ का कारण पूछती। बताने पर इन्द्र का यज्ञ न करके गिरि गोवर्धन यज्ञ करने की सम्मति वह कृष्ण बनी गोपी देती। तब सब गोवर्धन याग करने लगते। देवेन्द्र उन पर ओलों की वर्षा करते। तब व्रजवासी बनीं व्रजांगनायें भय से विह्वल होकर व्रजराज बनी बनिता की विनय करतीं। तब व्रजबल्लभ बनी व्रजांगना हाथ उठाकर कहती—"अरे व्रजवासियो! तुम वायु और वर्षा से भयभीत मत हो। इन्द्र तुम्हारा कुछ भी नहीं कर सकता। मैं दुष्टों का शासन करने वाला तुम्हारे सम्मुख उपस्थित

तुम्हें सभी संकटों से छुड़ा दूँगा। तुम सोच मत करो। मेरा अवतार शिष्टों के पालन और दुष्टों के संहार के निमित्त हुआ है।" यह कहकर वह अपनी ओढ़नी को फैला देती। दूसरी गोप बनी गोपिकायें लकुट लगाकर उसकी सहायता करतीं, इस प्रकार वह गोवर्धन धारण लीला का अभिनय होता।

तदनन्तर कालियदमन लीला करने लगतीं। कोई गोपी कालिय नाग बन जाती बहुत-सी गौएँ बनकर कालियह्रद में जल पीने को जातीं और विषमिश्रित जल पीकर मर जाने का अभिनय करतीं दूसरी श्रीकृष्ण बनकर कालियदह में कूदती और कालिय को ललकार के डाँट डपटकर कहती—"अरे, दुष्ट! तू खड़ा तो रह! तैंने यहाँ बहुत उपद्रव किया है। आज मैं तुझे यहाँ से निकालकर ही छोड़ूँगा।" यह कहकर कालिय बनी गोपी के ऊपर श्रीकृष्ण का अनुकरण करने वाली गोपी चढ़ जाती और उसके फणों पर नृत्य करने का अभिनय दिखाती। फिर कुछ गोपिकायें नाग पत्नी बनकर श्रीकृष्ण की स्तुति करतीं। तब श्रीकृष्ण बनी हुई गोपी कालिय को छोड़ देती।

इतने में ही सब अग्नि की लपटों से जलकर इधर-उधर भागने का अभिनय करतीं। सब चिल्लातीं—"चलियो रे, भगियो रे, वन में दावानल लग गयी है। श्रीकृष्ण हमारी रक्षा करो, रक्षा करो।" तब एक गोपी श्रीकृष्ण बनकर कहती—"गोपगण! घबराने की कोई बात नहीं। समस्त विपत्तियों से बचाने वाला मैं तुम सब लोगों के सम्मुख उपस्थित हूँ। तुम सब लोग अपने-अपने नेत्रों को मूँद लो। मैं अभी सहज में ही तुम सबकी दावानल से रक्षा करूँगा।" यह सुनकर सब अपने कोमल-कोमल करों से अपनी कजरारी बड़ी-बड़ी आँखों को मूँद लेतीं। श्रीकृष्ण बनी गोपी दावानल पान करने का अभिनय करती।

फिर कोई गोपी यशोदा बनकर दही मथने लगती। दूसरी

श्रीकृष्ण बनकर उनसे माखन माँगती। दूध उफना समझकर यशोदा बनी गोपी उसे उतारने दौड़ती तब तक श्रीकृष्ण बनी गोपी मटुकी फोड़कर भाग जाती। फिर यशोदा बनी गोपी श्रीकृष्ण की चंचलता से खीजकर उन्हें पकड़ने दौड़ती। पकड़कर अपने कंठ की पुष्पों की माला से श्रीकृष्ण बनी गोपी को बाँध देती। इस प्रकार दामोदर लीला का अनुकरण करतीं। श्रीकृष्ण के भय का वह सुनयनी गोपी बड़ा ही स्वाभाविक अनुकरण करतीं।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! मैं कहाँ तक वर्णन करूँ। श्रीकृष्ण प्रेम में पगली हुई ये व्रजांगनायें श्रीकृष्ण भाव में भावित होकर उनकी छोटी मोटी बड़ी अनेकों लीलाओं का अनुकरण करने लगीं। इस वन से उस वन में जातीं, जहाँ जातीं वहीं लीला अनुकरण करतीं। कभी वृक्षलता गुल्मों से पुनः प्रभु का पता पूछतीं। इस प्रकार जब वे अधिक विह्वल हुईं तो उन्हें वहाँ भूमि पर वज्रांकुशादि चिन्हों से चिन्हित बालू में उभरे हुए श्यामसुन्दर के चरण चिन्ह दिखाई दिये। उनके दर्शनों से उनकी जैसी विचित्र दशा हुई, उसका यत् किंचित दिग्दर्शन मैं आगे कराऊँगा। आप सब समाहित चित्त से इस परम पावन पुनीत प्रसंग को श्रवण करने की कृपा करें।"

छप्पय

बनि कालिय- फुफकार, एक गोपी जब मारे।
बनि नँदनन्दन अपर नायिके ताहि निकारे॥
एक कृष्ण बनि गोवर्धनकूँ धारें बलतें।
बनि यशुमति हरि बनी ताहि बाँधे उखलतें॥
देह गेहकी सुधि न कछु, भ्रमति प्रेम रसमहँ पगी।
तन्मय ह्वैकें अनुकरण, नटवर को करिबे लगी॥

—०—

सात्विकी ईर्ष्या

[६७६]

अनयाऽऽराधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः ।
यन्नो विहाय गोविन्दः प्रीतो यामनयद् रहः ॥*

(श्रीमा० १० स्क० ३० अ० २८ श्लो०)

छप्पय

निरखे प्रभुके चरण चिह्न अवनीपै उभरित ।
वज्रांकुश, ध्वज, कमल यवादिक चिन्हनि चिन्हित ॥
बिच-बिच प्यारी चरन निरखि अतिशय अकुलावति ।
करें सौतिया डाह प्रियाको भाग्य सराहति ॥
है अनुपम अनुराग अति, राधाको ही कान्तमहँ ।
करहिँ भ्रमर सम पान हरि, अधरामृत एकान्तमह ॥

यह बात बार-बार बताई जा चुकी है, कि जैसे गुण निर्गुणी को प्राप्त करके दोष बन जाते हैं, वैसे ही अवगुण भी प्रेम के संसर्ग से गुण बन जाते हैं। जैसे चिन्ता, उन्माद तथा जड़ता आदि लौकिक दृष्टि से दोष हैं किन्तु प्रेम के सात्विक अनुभाव होनेसे ये

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"वनों में भटकती हुई गोपिकायें जब श्रीकृष्ण के चरणों के साथ श्रीराधाजी के चरणचिन्हों को देखती हैं, तो कहती हैं—"निश्चय ही इसी सखी ने भगवान् की आराधना की है। इसीलिये तो इसने प्रसन्न होकर, हम सबको छोड़कर अकेली इसी को एकान्त में ले गये हैं।"

गुण ही माने जाते हैं, उसी प्रकार लोक में किसी के ऐश्वर्य आदि को देखकर ईर्ष्या करना बड़ा भारी दोष है, किन्तु इस प्रेममार्ग में ईर्ष्या का भी महत्व है। इस ईर्ष्या में एक प्रकार का सुख है। श्रीराधाजी की प्रतिस्पर्धिनी श्रीमती चन्द्रावली मानी जाती हैं। सुनते हैं एक दिन वे भाद्रपद की चतुर्थी के चन्द्रमा का पूजन कर रही थीं, किसी गोपी ने आकर पूछा—"वीर! यह क्या कर रही हो, भादों की चौथ के चाँद को तो देखने में ही दोष लगता है, तुम तो इसका भक्तिभाव से पूजन कर रही हो, इसका कारण बताओ।"

चन्द्रावलीजी ने पूछा—'भाद्रशुक्लाचतुर्थी के चाँद को देखने से क्या दोष लगता है? सखी!"

सखी बोली—"इस दिन चन्द्र से एक बहुत ही निंदित काम बन गया था, अतः जो इस दिन चन्द्रमा का मुख देखता है, उसे कलङ्क लग जाता है।"

चन्द्रावलीजी ने कहा—"तो मैं इसीलिये तो इसका पूजन कर रही हूँ, कि श्रीकृष्ण के सम्बन्ध से मुझे भी कलङ्क लग जाय, सभी मुझे श्रीकृष्ण कलङ्किनी कहने लगें।"

सारांश कहने का इतना ही है कि प्रेममार्ग में ईर्ष्या होना भी बहुत ही भाग्य की बात मानी जाती है। जो भी भाव हो, यदि उसका सम्बन्ध संसारी सुख से है तो वह निन्द्य है और यदि उसका सम्बन्ध भगवान से ही है तो सभी भाव सराहनीय हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! प्रेममार्ग कितना अटपटा है, प्रेमी की सम्बन्धित कोई भी वस्तु मिल जाय, वही उद्दीपन हो जाती है। प्रेम जड़ चेतन सुन्दर असुन्दर नहीं देखता। उसे तो प्रियतम चाहिये और उनसे भी अधिक चाहिये उसकी प्यारी-प्यारी मधुर-मधुर स्मृति। प्रिय स्मृति जिससे निरन्तर बनी रहे,

यही प्रेम पथ के पथिक की सबसे अन्तिम और एकमात्र इच्छा है। इसी के लिये उसके तन-मन की समस्त चेष्टायें हैं।"

व्रजाङ्गनाओं ने जब वृन्दावन की लहरियादार यमुना पुलिन की विचित्र बालुओं पर नन्दनन्दन के उभरे हुए चरण चिन्ह देखे तो उनके हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। उन चरणचिह्नों को देखकर वे परस्पर में कहने लगीं—"देखो ये चरणचिन्ह अवश्य ही चितचोर श्यामसुन्दर के हैं?"

यह सुनकर एक जो सखी उन चरणचिन्हों से दूर थी, वह कहने लगी—"सखियो! तुमने कैसे जाना ये श्यामसुन्दर के ही चरणारविन्दों के चिन्ह हैं?"

इस पर एक बोली—"ओहो! इसमें भी कुछ शंका के लिये स्थान हो सकता है क्या? भगवान् के चरण क्या सर्वसाधारण पुरुषों के समान हो सकते हैं? भगवान् के चरणों में जो ये ध्वजा, वज्र, कमल, अंकुश और यवादि के चिह्न हैं वे क्या किसी अन्य के चरणों में हो सकते हैं। एक नहीं ये तो क्रमशः पंक्तिबद्ध बहुत से चरणचिन्ह हैं, इनमें ये सब भगवत्ता द्योतक लाञ्छन स्पष्ट उभरे हुए हैं।"

फिर आगे बढ़कर और चौंककर बोली—"यह देखो, यह देखो यह छोटे छोटे चरण इन चरणों से सटे हुए किस स्त्री के चरण हैं। अवश्य ही श्यामसुन्दर अपनी प्रिया के कंठ में गलबाहीं डालकर इधर से गये हैं। जैसे हथिनी अपने हाथी के साथ जाती है। साँड़ जैसे गौ का अनुसरण करता है, मयूरी जैसे मयूर के संकेत से नाचती है उसी प्रकार श्यामसुन्दर के संकेतानुसार उनकी प्रिया भी उनके साथ-साथ गयी होंगी। अहा! वे श्रीराधा जी कितनी बड़भागिनी हैं जो अपने प्रियतम के कन्धे पर रखे, उनके अंगों में अपने अंगों को सटाकर, उनके मोर मुकुट में अपनी चंद्रिका को छुआकर उनकी लटकती जटाओं में अपने

केशपाशों को उलझाकर, अपनी नीली साड़ी में उनके पीताम्बर को मिलाकर उनके चरणचिन्हों को बचाकर उनके साथ-साथ गयीं होंगी। जीवन का लाभ तो उन्होंने ही पाया। अपनी सेवा से श्यामसुन्दर को सब प्रकार से सन्तुष्ट उन्होंने ही किया है। हाय! हम तो अभागिनी ही रह गयीं। हमें तो वे तनिक सुख देकर, हमारी लालसा को बढ़ाकर, तनिक-सा रतिसुख दिखाकर अन्तर्हित हो गये।"

इस प्रकार की राधाजी के भाग्य की सराहना करती हुईं अपने भाग्य को धिक्कारती हुईं वे रो रही थीं। श्रीकृष्ण की चरण-धूलि को पलकों से उठाकर सिर पर धारण कर रहीं थीं, वक्षःस्थल से मलकर तन के ताप को मिटा रही थीं और बारम्बार उन्हें अंगों में मल रही थीं। इस पर एक बोली—"सखियो! तुम अपने को इतनी हतभागिनी क्यों कह रही हो? अरी वीर! तुम विचारो तो सही। यह वृन्दावन की परम पावन रज कोई साधारण वस्तु नहीं है। जिस रज पर नन्दनन्दन ने अपने चरणारविन्दों को रखा है, उस रज के भाग्य की सराहना जितनी भी की जाय, उतनी ही कम है, ब्रह्मा, शङ्कर तथा अन्यान्य बड़े-बड़े लोकपाल इस रज के दर्शनों के लिये सदा तरसते रहते हैं, जिन लक्ष्मीजी के कृपा कटाक्ष के निमित्त बड़े-बड़े अधिकारी लालायित रहते हैं, वे लक्ष्मीजी भी इस चरणरज को सिर पर चढ़ाने के निमित्त सदा व्यग्र बनी बैठी रहती हैं और इस रज के कण को पाकर अपने आपको कृतार्थ मानती हैं। उस रज को तुम सब स्वेच्छा पूर्वक शरीर से मल रही हो। अपने अनङ्ग ताप को शांत कर रही हो। तुम सब भी कुछ कम भाग्यशालिनी नहीं हो।"

इस पर एक अन्य सखी बोली—"बहिनाओ! तुम बुरा मानो चाहे भला। मैं जानती हूँ तुममें से बहुत-सी मेरी बात से

बुरा मान जाओगी, किन्तु मुख पर आयी बात को कह देना ही उचित है। श्यामसुन्दर के चरणारविन्दों के चिन्हों से तथा उनके संस्पर्श से पावन हुई रज से तो हमारा चित्त प्रसन्न होता है, किन्तु यह जो उनके चरणों के समीप छोटी छोटी धँसी हुई एड़ी वाले चरणचिन्ह हैं, उन्हें देखकर हमारे मन में क्षोभ हो रहा है, हमें ईर्ष्या हो रही है।"

उनमें से एक गोपी बोली—"क्यों बहिन ईर्ष्या की कौनसी बात है, यह तो श्रीकृष्ण की प्रिया के चरणचिन्ह हैं, प्यारे के सम्बन्ध की तो सभी वस्तुएँ प्यारी होती हैं, फिर हमारे प्यारे जिन्हें प्राणों से भी अधिक प्यार करें, वे तो हमारी सर्वस्व हैं, उनका आदर तो प्यारे से भी अधिक करना चाहिये।"

इस पर उसी गोपी ने कहा—"तुम उसका आदर प्यारे से अधिक भले ही करो। इसके लिये मैं मना तो करती नहीं। यह तो अपने मन की बात है, किन्तु अपनी मानता को बलपूर्वक दूसरों पर लाद देना उचित नहीं। हम जो मानते हैं, दूसरा भी वैसे ही माने। हम जिसे जैसा समझते हैं, दूसरा भी उसे वैसा ही समझे ऐसा आग्रह करना उचित नहीं। श्रद्धा कुछ दूसरे के करने से तो होती नहीं। वह तो अन्तःकरण की प्रेरणा से होती है। तुम प्यारे की प्यारी का आदर करो। मैं तो उसे स्वार्थपरा मानती हूँ जो सबकी सम्पत्ति है, जिसके उपभोग का सभी को समान रूप से अधिकार है। उन श्रीकृष्ण के अधरामृत का वह एकान्त में अकेली ही पान करती है, यह उसकी स्वार्थपरता नहीं तो क्या है। इस कारण हमें तो उससे डाह होता है।"

इस पर उस गोपी ने कहा—"देवि! सबका अधिकार एक-सा नहीं होता। आप उनकी प्राणप्रिया हो, आप भीजी के साथ सापत्न्य भाव रख सकती हो, किन्तु हम तो उनकी दासियों की दासी होने की भी अपने को अधिकारिणी नहीं मानतीं। हमारा तो एक

मात्र अवलम्बन श्रीकृष्ण-कृपा ही है। वे हमें चाहें अपनावें चाहें ठुकरावें चाहें पकड़कर हृदय से लगालें, या अपना छोटे से छोटा कैंकर्य करालें। हम तो उनकी किंकरियों की भी किङ्करी हैं। उन्होंने हमें आशातीत सुख दिया, अब उसी सुख को स्मरण कर करके रो रही हैं, इधर से उधर भटक रही हैं।"

श्रीसूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार वे व्रजांगनायें परस्पर में बातें करती हुईं और श्रीकृष्ण के चरणचिन्हों का अनुसरण करती हुईं आगे बढ़ी चली जा रही थीं। आगे अकेले श्रीकृष्ण के ही चरणचिह्न देखकर वे आश्चर्य चकित होकर भाँति-भाँति के अनुमान लगाने लगीं।"

छप्पय

करत बिबिधि अनुमान बढ़ीं कछु आगे बाला।
एकाकी पदचिह्न निरखि बोलीं इहँ लाला॥
अवसि यान वे बने राधिका कन्ध चढ़ाई।
यहाँ तोरिके फूल श्याम ने प्रिया सजाई॥
फूली-फूली लतनितैं, उचकिसुमन तोरे अवसि।
एड़ी बिनु पंजे बने, पुनि इततैं आये निकसि॥

—o—

कामियों का दैन्य और स्त्रियों की दुरात्मता

[६८०]

रेमे तया चात्मरत आत्मारामोऽप्यखण्डितः ।
कामिनां दर्शयन् दैन्यं स्त्रीणां चैव दुरात्मताम् ॥❀

(श्रीभा० १० स्क० ३० अ० ३५ श्लोक)

छप्पय

अरी निहारो अली ! बनी बैठक दोउनिकी ।
प्रिया अंकमें धारि गुँथी है बैनी तिनिकी ॥
मोती सुमन पुरोइ प्रियाकी माँग सम्हारी ।
अवसि यहाँ तिहि संग करी है क्रीड़ा प्यारी ॥
अवसि यहाँ हरिवश भये, अवसि व्यथा दोउनि बढ़ी ।
श्याम दिखाई दीनता, अवसि सखी सिरपै चढ़ी ॥

यह पापी काम नर-नारी दोनों को दीन बना देता है। मनुष्य के मन में काम न हो, तो उसमें श्याम में कोई अन्तर नहीं। ईश्वर में यही विशेषता है, कि उसके मन में काम नहीं। उसे दूसरे के साथ रमण की इच्छा नहीं, अपने आप में ही रमण करने से वह 'राम'

❀ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! गोपिकायें परस्पर में कह रही हैं—"सखियो ! अवश्य ही यहाँ अपने आपमें ही सन्तुष्ट रहने वाले तथा आत्मा में रमण करने वाले भगवान् श्रीकृष्ण ने कामियों की दीनता और स्त्रियों की दुरात्मता दिखाने के निमित्त उस गोपी के साथ रमण किया होगा।"

अथवा 'आत्मकाम' कहलाता है। जीव को रमण की इच्छा है, उसके मन में कामना है, काम से ही दीनता आती है और दीनता ही दुःख की जननी है। मनुष्य के अन्तःकरण में काम न हो, तो वह सिंह की भाँति गरजता रहेगा। सिंह हाथी से बड़ा तो है ही नहीं। हाथी में यही दोष है, कि वह अत्यधिक कामी होता है, इसीलिये वह बँध जाता है, वाहन बन जाता है। सिंह में काम की मात्रा कम होती है, कहते हैं वह वर्ष में एक ही बार रति करता है, किसी-किसी का कथन है, कि वह जीवन में एक बार करता है! कुछ भी हो, वह भी काम के वश हो जाता है, इसीलिये वह भी कभी-कभी पकड़ा जाता है, पिंजड़े में बन्द हो जाता है। यदि उसमें उतना भी न हो तो, कोई उसे स्पर्श भी न कर सके। काम स्त्री पुरुष दोनों के ही हृदय में होता है, जो जितना ही अधिक कामी होगा, वह उतना ही अधिक हीन होगा। इच्छा मात्र का नाम काम है, चाहे वह इच्छा धन, स्त्री, पुत्र, मान, प्रतिष्ठा किसी की भी क्यों न हो। काम के वश होने पर दीनता आ ही जायगी। जिसका पलड़ा भारी होगा, वही अधिक दीन होगा। यदि पुरुष का पलड़ा भारी है, तो वह स्त्री को कठपुतली बनाये रहेगा। यदि स्त्री का पलड़ा भारी है, तो वह पुरुष को जमूड़ा बनाकर उसे अपने संकेत पर नचाती रहेगी। श्रीकृष्ण इन्हीं लीलाओं को दिखाने को ऐसी मधुर-मधुर लीलायें किया करते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! वे गोपांगनायें प्रिया के साथ श्यामसुन्दर के चरणचिन्हों का अनुसरण करती हुई बड़ी दूर तक चली गयीं। आगे चलकर उन्होंने देखा श्यामसुन्दर के चरण चिन्ह तो हैं, किन्तु प्रियाजी के चरणों के चिन्ह दृष्टि-गोचर नहीं होते। तब वे आपस में कहने लगीं—"अरी, बहिनो! देखो, कैसी आश्चर्य की बात है, यहाँ तो अकेले श्याम-

सुन्दर के ही चरण हैं। प्रियाजी यहाँ से कहाँ चली गयीं ?"

इस पर एक प्रगल्भा-सी गोपी बोली—"प्रतीत होता है, यहाँ दूर्वा कुछ कठिन है, अतः अत्यन्त स्नेह के वशीभूत होकर प्यारे ने यहाँ प्रियाजी को अपने कंधे पर चढ़ा लिया होगा, जिससे उनके अत्यन्त सुकुमार चरणों को कष्ट न हो। ओहो! अवश्य यही बात है। तुम देख नहीं रही हो, ये चरण धँसे हुए हैं। बोझ के कारण पूरे के पूरे बालू में गड़कर उभरे हुए हैं।"

इस प्रकार कहतीं-कहतीं और उन भाराक्रान्त चरणचिन्हों की पदावली को निहारती हुईं आगे बढ़ीं। कुछ दूर और चलकर उन्होंने देखा—"जाती, चंपा, मालती, तथा कुन्द की कलियाँ फूली हुई हैं। बड़ी-बड़ी लताओं के विस्तृत वितान बने हुए हैं, वहाँ चरणों का चिन्ह न देखकर वे खोजने लगीं और कहने लगीं यहाँ तो कई प्रकार के चरण हैं, कुछ आगे हैं, कुछ पीछे हैं। प्रियाजी के भी हैं, प्रीतम के भी हैं। ओहो! श्यामसुन्दर से प्यारीजी ने पुष्प तोड़ने के लिये आग्रह किया होगा। प्रतीत होता है, यहाँ श्यामसुन्दर प्यारीजी के सर्वथा वश में हो गये हैं। तभी तो उन्हें कंधे पर बिठाकर यहाँ तक लाये हैं। यह देखो, यह देखो। यहाँ उन्होंने उन्हें कन्धे से नीचे उतारा है। यह देखो, वृक्ष को पकड़कर इसके सहारे उतरकर प्रियाजी यहाँ बैठी होंगी। यहाँ केवल बालुका में उनके बैठने का चिन्ह स्पष्ट बना हुआ है। यहाँ कुछ पुष्प भी गिरे हुए हैं। प्रतीत होता है। प्रिया की प्रसन्नता के निमित्त प्यारे ने यहाँ पुष्पचयन किया है। ये इतनी फूली-फूली लतायें ही बड़भागिनी हैं, जिनकी डाली को झुकाकर स्नेह पूर्वक नन्दनन्दन ने इन पर से फूल तोड़े होंगे। हाँ ये कुछ ऊँची लतायें हैं। यहाँ उचककर मदनमोहन ने सुमनों को तोड़ा होगा। यह बिना एड़ी के पञ्जों के उभरे हुए चिन्ह स्पष्ट इस बात की सूचना दे रहे हैं।"

इस पर एक ने उत्सुकता पूर्वक कहा—"देखो, देखो, ये ट के टूटे हुए फल हैं, प्रतीत होता है, मदनमोहन यहीं कहीं प्रिया के लिये हार गूँथ रहे होंगे।"

यह सुनकर कई गोपियाँ इधर-उधर हारों के चिन्ह खोजने लगीं। एक ने चिल्लाकर कहा—"यहाँ आओ, यहाँ आओ। एक बात का पता चला। देखो, ये सुन्दर काले-काले घुँघराले बड़े-बड़े दो तीन बाल पड़े हैं। अवश्य ही ये प्रियाजी के सिर के बाल हैं। यहाँ भी श्रीकृष्ण ने उनके बाल सम्हाले होंगे, यहाँ उनके बालों में कंघी करके उनकी वैंणी बाँधी होगी। देखो, ये पुष्प पड़े हैं, छोटे-छोटे मोती भी बिखरे हुए हैं। मोती और सुमन से अपनी प्यारी सहेली के केशपाशों को विभूपित किया होगा। ओहो! देखो, ये दोनों के ही बैठने के स्पष्ट चिन्ह बने हुए हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं रहा, कि यहीं बनवारी ने प्यारी की वैंणी गूँथी है।"

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! वैंणी गूँथना तो नाइन का काम है, स्त्रियाँ ही स्त्रियों की वैंणी गूँथती हैं। पुरुष होकर भी श्रीकृष्ण ने प्यारीजी की वैंणी क्यों गूँथी?"

यह सुनकर हँसते हुए सूतजी बोले—"महाराज! जब पुरुष स्त्री के अधीन हो जाता है, तो उसमें पुरुषत्व रहता ही नहीं। उस समय तो वह काठ की पुतली बन जाता है, उस समय उससे नाई का नाइन का, धोबी का धोबिन का, माली का मालिनि का, भंगी का भंगिन का, जो चाहे सो करा लो, वैंणी गुँथवा लो, तैल मलवा लो, चरणसेवा करालो, उस समय यह करना चाहिये यह न करना चाहिये ऐसा भेदभाव वहाँ रहता नहीं। प्रेम तो नेम से परे की वस्तु है न? उसमें कोई काम निन्द्य नहीं माना जाता। अपना प्रेमी जिससे प्रसन्न हो, जिससे उसका अधिक स्पर्श हो उसमें अधिकाधिक सुख होता है। प्रेम

का मार्ग बड़ा अटपटा है। उसके कुछ नियम हैं तो सही किन्तु वे निःसीम हैं, अमर्यादित हैं। उनकी सीमा नहीं, मर्यादा नहीं, इयत्ता नहीं। जिससे रसवृद्धि हो वही वहाँ कर्तव्य है।

मुनियो! गोपिकायें तो भेदिया थीं, वे तो रस की सब रीतियों से परिचित थीं। सभी के चिन्ह जानती थीं। वे समझ गयीं श्याम ने यहाँ श्याम के साथ समस्त सुख की क्रीड़ायें की हैं। यहाँ दोनों बहुत देर तक खेलमाल करते रहे होंगे।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! भगवान् ने ऐसी अपनी प्रतिष्ठा के विरुद्ध क्रीड़ायें किस कारण कीं?"

इस पर सूतजी ने कहा—"अब महाराज! भगवान् के कारण को जीव कैसे समझ सकता है, फिर भी यह तो निश्चित ही है, कि भगवान् त्रिकाल में भी कभी काम के वश में नहीं हो सकते। यह लीला तो उन्होंने काम पर विजय प्राप्त करने के लिये अनंग को चुनौती देकर की है। जो अपने आप में ही सदा सन्तुष्ट रहते हैं उन्हें किसी के सम्मुख दीनता प्रकट करने की, उसके संकेत पर नाचने की आवश्यकता ही क्या है? जिसके पास स्वयं सुख की सामग्री न होगी, वही दूसरों से याचना करेगा, दूसरों की अधीनता स्वीकार करेगा, जो नित्य सुखस्वरूप हैं, वे सुख के लिये दूसरों का मुँह क्यों ताकेंगे। दूसरों की अपेक्षा क्यों रखेंगे? जो आत्मा में ही रमण करने वाले हैं उन्हें रमण के लिये दूसरी रमणी की दासता करने की आवश्यकता ही क्या है? फिर भी लोकलीला दिखाने को कामियों की दीनता का दिग्दर्शन कराने को तथा स्त्रियों की दुरात्मता दर्शाने को दामोदर ने यह लीला प्रदर्शित की।"

इस पर शौनकजी बोले—"सूतजी! कामियों की दीनता तो इसमें स्पष्ट ही है, कि काम के वशीभूत होकर न करने योग्य

काम करने पड़ते हैं, किन्तु इसमें स्त्रियों की दुरात्मता क्या हुई ?"

सूतजी बोले—"महाराज, दुरात्मता से अभिप्राय यहाँ अधीन कर लेना ही है। जब तक पुरुष काम के अधीन नहीं, तब तक स्त्री दीन बनी रहती है। देखिये, बाँसुरी की ध्वनि होती सुनकर जब गोपियाँ आई थीं, तब कैसे दीनवाणी से रो-रोकर प्रार्थना करती रहीं। जब श्रीकृष्ण ने उन्हें अपना लिया, तो फिर उन्हें अभिमान हो गया। संसार में अपने को सर्वश्रेष्ठ समझने लगीं। जब पुरुष काम के वशीभूत हो जाता है, तो स्त्रियाँ उसे ऐसे-ऐसे नाच नचाती हैं, कि सब दाल आटे का भाव भूल जाता है। उसे ऐसे कसकर बाँध लेती हैं, कि कोई विरला ही भाग्यशाली उस बन्धन से छूट सकता है, नहीं तो जो इस ओर आया, फिर उसका उद्धार असम्भव हो जाता है। फिर तो वे उसके सिर पर सवार हो जाती हैं, उसे जमूड़ा बनाकर जैसा चाहती हैं, वैसा नाच नचाती हैं।"

शौनकजी ने कहा—"क्या सूतजी ! पुरुष का कुछ दोष नहीं, क्या पुरुष दुरात्मता नहीं करता ?"

सूतजी बोले—"भगवन् ! यहाँ दोष का प्रश्न थोड़े ही है। यहाँ तो केवल विवशता वर्णन करने में तात्पर्य है। यों दोष की बात पूछी जाय, तो दोष तो सब पुरुष का ही है। चन्द्रमा यदि अपनी किरणों को न फैलावे, तो चन्द्रकान्त मणि कभी द्रवित हो ही नहीं सकती। चन्द्रमा अपनी किरणों को न फैलावे यह असम्भव है। किरणों के बिना वह रह ही नहीं सकता, उसका स्वभाव है। मनुष्य काम चेष्टा प्रदर्शित न करे यह असम्भव नहीं, तो अत्यन्त कठिन अवश्य है। नारी जाति पुरुष का रुख देखती है तो द्रवित हो जाती है। जब उसके मन में भी वैसे भाव आते हैं, तभी उसका कामिनी नाम सार्थक हो जाता है। उस अवस्था

में वह जो चाहे कर सकती है। अर्थ अनर्थ सब कुछ हो जाती है। मनुष्य को वश में करके वह सब कुछ करा लेती है। जो काम किसी भी उपाय से न हो, वह कामिनी के द्वारा कराया जा सकता है। स्त्री का नाम अबला क्यों है? अ कहते हैं अनङ्ग को। अर्थात् अनङ्ग का ही बल है जिसमें उसे अबला कहते हैं। अनङ्ग का बल संसार में सबसे बड़ा बल है। इसीलिये नारी जाति को सबसे आकर्षक और सबसे बलवती बताया जाता है।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! क्यों प्रसंग को नीरस बना रहे हो। यह अत्यन्त ही सरस प्रसंग है। हाँ, तो आगे क्या हुआ? आगे की कथा कहिये।"

सूतजी बोले—"अच्छी बात है भगवन्! अब मैं आगे की कथा कहता हूँ। आगे इससे भी सरस कथा है। उसे सावधान होकर श्रवण करें।"

छप्पय

अरी, रमन ने रमन करयो रमनी सँग तरुतर।
अचो पचो मिल्यो श्याम श्यामाको गुरुतर॥
धन्य लाड़िली भाग करे वशमहँ बनवारी।
मनोकामना पूर्ण भई नहिं वीर! हमारी॥
कृष्णान्वेषण कातरा, इत रमनी बन-बन फिरहिँ।
उत प्रियतम सँग राधिका, कामकेलि कौतुक करहिँ॥

इसके आगे की कथा अगले खंड में पढ़िये।